वैदिक-भाषानुशीलन

(ऐतरेयोपनिषद् तथा वाल्मीकि-रामायण)

का

[illegible]

लेखक

गङ्गाधर मिश्र

संस्थापक

श्रीराष्ट्रभाषा विद्यालय, वाराणसी।

प्रकाशक

राष्ट्र-भाषा-प्रकाशन-मन्दिर

वाराणसी

मूल्य चार रुपये—

मुद्रक:—

श्री गणेश प्रेस, भैरोनाथ, वाराणसी।

दो शब्द

वेदों में जीवन के चिरन्तन-प्रवाह का प्रकृति के विराट् वैचित्र्य के साथ अभिव्यंजन है। इसलिए इनकी महनीयता सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक है। आज की शिक्षा-प्रणाली में भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, संस्कृति, कला, राजनीति, दर्शन, पदार्थ-विज्ञान आदि विषयों के प्रामाणिक अध्ययन पर बल दिया जा रहा है। ऐसी दशा में मानव-सभ्यता के आदिकाल के इन विषयों के अनुभवों से लाभ उठाना परमावश्यक है। इसी महान् लक्ष्य की सिद्धि को ध्यान में रख कर कठोर तपःस्वाध्याय के साथ इस अनुसन्धान-ग्रंथ का प्रणयन हुआ है, सभी प्रकार की रुचि के पाठक राष्ट्रभाषा के द्वारा वैदिक-अनुभवों से सरलतापूर्वक परिचित होकर आत्मपरिचय तथा आत्मविस्तार का लाभ उठा सकते हैं।

वैदिक-अनुभव ज्योति की ही पूर्णता के साथ अभिव्यक्ति महर्षि-कवि वाल्मीकि की रामायण में हुई है। इसे आदिकाव्य के रूप में भारतीय-मेधा ने अर्चित किया है। हमारी राष्ट्रियता का यह अप्रतिम-वैभव है। आज तक राम-काव्य की कल्पना का प्रवाह जो उमड़ते हुए हमें मिलता है, उसका प्राण-स्वर इसी महाकाव्य में झंकृत है। इसके परिचय से शून्य-दशा में राष्ट्र-भाषा के स्वरूप की प्रतिष्ठा तथा बोध में सर्वत्र-भ्रान्ति स्वाभाविक है। इसी-लिए परिचयात्मक रूप से इस ग्रंथ के अनुशीलन द्वारा वेदार्थ-विस्तार का निर्भ्रान्त प्रत्यक्ष कराया गया है। किमधिकम्, "नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते।"

संस्थापक
श्रीराष्ट्रभाषा विद्यालय
त्रिलोचन, वाराणसी।

विनीतः—
गङ्गाधर मिश्र

विषय-सूची

वेदों में अक्षर-तत्त्व

संसार में जो कुछ भी हमें अपूर्व-दृश्यों की आनंदमयी प्रतीति होती है, वह शब्द-ब्रह्म की ही लीला की चमत्कृति है। यह शब्द-ब्रह्म की लीला अक्षर ब्रह्म के अद्भुत-व्यापार की ही परिणति है। यही सृष्टि की समस्त नवीनताओं का प्रत्यक्ष कराते हुए अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की पूर्णता का अमृत सुलभ कराती है। इस अक्षर-ब्रह्म की अविचल-निष्ठा ने ही वैदिक-श्रुति की सनातन-एकरूपता को सर्वदा के लिए विश्वसनीय बनाया है। ऋग्वेद के ऋषिने अक्षर-ब्रह्म की अनन्त महनीयता की संस्तुति करते हुए कहा है:—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवाः अधिविश्वे निषेदुः।
यः तत् न वेद किम् ऋचा करिष्यति, ये इत् तद्विदुः ते इमे समासते।
(ऋ० १।१६४।३९)

ऋचायें (यजुः साम और ऋचा मंत्र) उस सब से बड़े व्यापक अक्षर (अविनश्वर ब्रह्म) में प्रतिष्ठित हैं, जिसमें सब देवता (अग्नि, वायु सूर्यादि) स्थित हैं। जो उसको नहीं जानता है वह ऋचा से क्या करेगा? जो निर्भ्रान्तरूप से उसे जानते हैं, वे (ज्ञानी-महात्मा) आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इस अक्षर-ब्रह्म की असीम-शक्ति के परिज्ञान के लिए उपनिषदों में अनेक स्थलों पर तपःशील महर्षियों की सहृदयता का प्रत्यक्ष मिलता है। अक्षर से ही समस्त सृष्टि के आविर्भाव एवम् तिरोभाव का बोध कराने के लिए महर्षि ने अपने विश्वास को इस प्रकार व्यक्त किया है:—

यथा ऊर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्याम् ओषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथा अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम्।

जैसे मकड़ी अपने भीतर से तन्तुओं को बाहर निकालती तथा अपने ही भीतर समेट लेती है। जिस प्रकार पृथ्वी से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और

पुनःउसी में विलीन हो जाती हैं, जैसे जीवित मनुष्य से केश और रोम (रोयें) उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, अक्षर-ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है, इसी के द्वारा संसार के विविध-रूपमय-दृश्यों की प्रतीति होती है। इस अक्षर-ब्रह्म की अनेक रूपात्मक परिणति का परिचय देते हुए तत्त्वद्रष्टा ऋषि ने कहा है:—

तपसा चीयते ब्रह्म, ततो अन्नम् अभिजायते।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।

तपस्या से अक्षर-ब्रह्म वृद्धि को प्राप्त करते हैं, इन वृद्धि-प्राप्त अक्षर-ब्रह्म से भोग्या-प्रकृति (अन्नादि) उत्पन्न होती है और भोग्या प्रकृति से प्राण, महत्तत्त्व, इन्द्रियाँ, उनके विषय, स्थूल-सूक्ष्म भूत, तीनों लोक, तथा कर्म के होने पर उनका अवश्यम्भावी फल सुख सुलभ होता है। इसी अक्षर-ब्रह्म से नाम-रूपमय संसार अपनी विविधताओं के साथ प्रकट होता है। इस तथ्य का परिचय इस पंक्ति से स्पष्ट मिल रहा है:—

तस्माद् एतद् ब्रह्म नामरूपम्, अन्नं च जायते।

इस अक्षर-ब्रह्म से समस्त-सृष्टि प्रकट होती है और इसी में लीन हो जाती है। यह क्रिया उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, और पुनः उसी में लीन हो जाती हैं :—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।

रूपकात्मक भाषा में इसके सृष्टि व्यापी अस्तित्व का महर्षि-कविने अत्यन्त प्रभविष्णु प्रत्यक्ष कराया है। इस अक्षर-ब्रह्म-स्वरूप पुरुष का द्युलोक सिर, सूर्य-चन्द्र-आँखें, दिशायें कान और खुले हुए वेद इसकी वाणी हैं। वायु-प्राण, विश्व हृदय और पृथिवी चरण है। निश्चित रूप से यह सब भूतों की अन्तरात्मा है। सत्य की दृष्टि से देखने पर महर्षि की यह अनुभूत्यात्मक व्यंजना सर्वथा औचित्य-पूर्ण प्रतीत होती है। संसार में ज्ञान-विज्ञान का जो आलोक प्रतिपल नव-नव

रूप में प्रसारित हो रहा है, वह अक्षर ब्रह्म का ही सत्प्रभाव है। अक्षरतत्व-बोध के सदुपयोग द्वारा ही मनुष्य ने भुक्ति-मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है और कर रहा है। जीवन के इस शाश्वत् सत्य का प्रत्यय इन पंक्तियों में ऋषि ने कितनी सरलता से व्यक्त किया है :—

तद् एतद् अक्षरं ब्रह्म, स प्राणः, तद् उ वाग् मनः।
तद् एतत् सत्यं तद् अमृतम्।

वैज्ञानिक-अनुसन्धान की जिस नव-नव स्पर्धा में चन्द्रमा-सूर्य आदि पर मानव प्रभुत्व-व्याप्ति के लिए अनुक्षण प्रयत्नशील है, उसका आधार भी अक्षर ब्रह्म की सत् अथवा असत् माया ही है। काल प्रवाह की अनेक रूपिणी प्रतीतियों का मूल भी अक्षर-तत्व बोध है। इसका परिचय राजर्षि याज्ञवल्क्य ने गार्गी को इस प्रकार दिया है :—

एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ
विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि!
द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतस्य वै अक्षरस्य
प्रशासने गार्गि, निमेषाः मुहूर्त्ताः अहोरात्राणि अर्द्ध मासाः
मासाः ऋतवः संवत्सराः इति विधृताः तिष्ठन्ति।

इतना ही नहीं, अक्षर-ब्रह्म की ही यह अद्भुत महिमा है, कि इसके द्वारा प्राणी अदृष्ट को देख लेता है; न समझी हुई बात को समझने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। अज्ञात-सत्य का ज्ञाता बन जाता है। इस सत्य की व्यंजना इन पंक्तियों में कितने प्रभविष्णु रूप में हुई है :—

तद् वै एतद् अक्षरं गार्गि! अदृष्टं द्रष्टृ, अश्रुतं श्रोतृ, अमतं मन्तृ, अविज्ञातं विज्ञातृ।

इस अक्षर-ब्रह्म के पूर्ण-तत्व-बोध से मनुष्य सर्वज्ञ बन जाता है और समस्त सृष्टि की उन्मुक्त आत्मीयता से अभिन्न तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। महर्षि की यह सत्यानुभूति इन पंक्तियों में मर्मस्पर्शी रूप में व्यक्त हुई है:—

तद् अक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वम् एवआविवेश।

अक्षर-ब्रह्म की पूर्णता का आदर्श-उपास्य प्रतीक ॐ के रूप में प्रतिष्ठित है। उपनिषदों में इसकी महानीयता का अनेक रूपों में प्रत्यक्ष कराया गया है। इसके सामान्य परिचय के लिए ऋषि ने लिखा है :—

ॐ इति एतद् अक्षरम् इदं सर्वम्। भूतं, भवद् भविष्यद् इति सर्वम् ॐ कार एव। यत् वै अन्यत् त्रिकालातीतं, तदपि ॐ कार एव।

ॐ यह ऐसा अक्षर ही यह सब कुछ है। भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान जो कुछ है, निर्भ्रान्त रूप से यह सब ॐकार है और इसके अतिरिक्त जो तीन कालों से परे हैं, वह भी ॐकार ही है। 'कठोपनिषद्' में यमराज ने नचिकेता से सब प्रकार की साधनाओं का चरम-ध्येय ॐ की पूर्ण प्रतीति कहा है :—

सर्वे वेदाःयत्पदम् आमनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि
ओम् इति एतत्।

इसकी तत्वानुभूति की पूर्णता द्वारा सब प्रकार की अभीष्ट-सिद्धि को सुलभ बतलाया है :—

एतद् हि एव अक्षरँ ब्रह्म, एतद् एव अक्षरं परम्।
एतद् हि एव अक्षरं ज्ञात्वा, यो यद् इच्छति तस्य तत्।
एतद् आलम्बनं श्रेष्ठं, एतद् आलम्बनं परम्।
एतद् आलम्बनं ज्ञात्वा, ब्रह्मलोके महीयते।

इसकी अद्‌भुत महिमा का वर्णन करने में महर्षि-हृदय को तृप्ति नहीं मिलती है। पर तथा अपर ब्रह्म को वे ॐ में हीं देखते हैं :—

परं च अपरं च ब्रह्म, यद् ओङ्कारः।

ॐ की तीन मात्राओं में प्रत्येक मात्रा के भीतर ब्रह्म का ध्यान करने से मनुष्य को जिस प्रकार की सिद्धि सुलभ होती है, इसका विशद वर्णन किया गया है। प्रथम मात्रा अ का ध्यान करने से जो सफलता मिलती है, उसका परिचय ऋषि ने इस प्रकार दिया है :—

स यदि एक मात्रम् अभिध्यायीत स तेन एव संवेदितः तूर्णम् एव जगत्याम् अभिसम्पद्यते । तम् ऋचो मनुष्यलोकम् उपनयन्ते । स तत्र तपसा, ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानम् अनुभवति ।

वह यदि एक मात्रा रूप ब्रह्म का ध्यान करे, तो वह उसी से ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त करता हुआ पृथ्वी के किसी भाग में स्थित होता है । उसको ऋचा मंत्र मनुष्य शरीर में ले जाते हैं । वह वहाँ तप से, ब्रह्मचर्य से और श्रद्धा से युक्त हो सर्वाङ्गपूर्ण मनुष्य सुख का अनुभव करता है । 'अकार' रूप अक्षर-ब्रह्म का प्रत्यक्ष पुराणों में अनेक प्रकार से प्राप्त होता है । परिचयार्थ कुछ संकेत यहाँ दिया जा रहा है :—

अकारस्तु महद् बीजं रजस्स्रष्टा चतुर्मुखः । शिव म० पु०

अकारो भगवान् ब्रह्माप्युकारः स्याद्धरिः स्वयम् । देवी भागवत

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में आत्मस्वरूप का परिचय देते हुए कहा है :— "अक्षराणाम् अकारोऽस्मि" । यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय, तो भगवान् श्रीकृष्ण की अथवा पुराणों की कल्पना सर्वथा सत्य प्रतीत होती है । महर्षि पाणिनि ने जिन चौदह सूत्रों के द्वारा व्याकरण शास्त्र की रचना की है; उसमें 'अल्' प्रत्याहार ही सब प्रत्याहारों का मूल है । 'ल' के अनुबन्ध मात्र होने के कारण केवल 'अ' की ही सार्थकता है । 'वायु-पुराण' में इस रहस्य का प्रत्यक्ष इस प्रकार प्राप्त हो जाता है :—

तस्मात्त्रिषष्टिर्वर्णाः वै अकार प्रभवाः स्मृताः । २६।२८।
चतुर्दशमुखो यश्च अकारो ब्रह्मसंज्ञितः ।
ब्रह्मकल्पः समाख्यातः सर्ववर्णः प्रजापतिः । ३६।३१।

यदि प्राणी 'अ' तथा 'उ' रूप ओंकार से ब्रह्म का ध्यान करता है, तो वह स्वर्गीय शरीर को प्राप्त करता है और स्वर्ग में ऐश्वर्य का भोग कर पुनः संसार में लौट आता है । अकार की भाँति ही उकार की महनीयता जीवन-व्यापिनी है । अकार का स्थान कण्ठ और उकार का स्थान ओष्ठ है । कण्ठ और ओष्ठ के मध्य से वर्णसमष्टि का उच्चारण होता है । इस प्रकार समस्त-सृष्टि का रहस्य

इनकी अनुभूति में विद्यमान है, इसे किसी प्रकार भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। उकार के महत्त्व की प्रतीति पुराणों में मिलती है :—

उकारः स्यद्धरिः स्वयम्। देवी भागवत।

उकारः प्रकृतियोनिस्सत्त्वं पालयिता हरिः।

(शिवमहा पुराण)

इसी भाँति मकार से युक्त तीन मात्रा रूप ॐ का ध्यान तेजस्विता में सूर्यत्त्व की महिमामयी-परिणिति प्रदान करता है। जिस प्रकार साँप केंचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। साम के मंत्र उसे ब्रह्मलोक से ऊपर ले जाते हैं। वह वहाँ जीवसमष्टिमय श्रेष्ठ-ब्रह्मलोक से भी परे समस्त शरीरों में अन्तरात्मा परम-ब्रह्म को देखता है। इस श्रुति की ध्वनि इस प्रकार है :—

यः पुनः एतं त्रिमात्रेण एव ओम् (ॐ) इति एतेन एव अक्षरेण परं पुरुषम् अभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरः त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं ह वै सः पाप्मनाविनिर्मुक्तः। स सामभिः उन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्मात् जीवघनात् परं पुरिशयं पुरुषम् ईक्षते।

यह सत्य की प्रतीति है, सन्देह के लिए यहाँ स्थान नहीं है। क्योंकि अकार और उकार की भाँति ही मकार की भी उनसे अभिन्न रूप में अनिर्वचनीय महिमा है:—

मकारः पुरुषो बीजी तमस्संहारको हरः। शिव महापुराण।

मकारो भगवान् रुद्रः। देवी भागवत।

इसलिए मात्रा-त्रय समन्वित ओंकार की साधनामयी प्रतीति प्रभविष्णुता में सर्वथा अपूर्व है:

तम ओङ्कारेण एव आयतनेन अन्वेति विद्वान्,

यत् तत् शान्तम्, अजरम्, अमृतम्, अभयं परं च।

इसीलिए अपनी वैज्ञानिक सार्थकता की पूर्णता के कारण पुराणों में भी ॐ की तत्वानुभूति का अभिनन्दन मिलता है: —

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म गुहायाँ निहितं पदम्।
ओमित्येतत्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः। वायु पुराण,
ध्रुवमेकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येव व्यवस्थितम्।
बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्मे त्यमिधीयते। विष्णु पुराण
ओमित्येकाक्षरे मंत्रे स्थितोऽहं सर्वगश्शिवः। शि० म० पु०।

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में अक्षर-ब्रह्म के द्वारा अत्यन्त मर्मस्पर्शी रूप में सृष्टि के उद्भव एवम् विकास के साथ जीवन की पूर्णता की प्रतीति कराई गई है। संसार की किसी भी भाषा में अक्षर-सृष्टि की यह महत्त्वानुभूति इस प्रकार नहीं मिलेगी। इस अक्षर-ब्रह्म की उपासना ने ही हमारे सामाजिक जीवन को विश्वसनीय बनाया था। अक्षर-सृष्टि की चिरन्तन महनीयता का परिचय पुराणों में भी मिलता है। वायु पुराण में लिखा है:—

न क्षीयते न क्षरति विकार-प्रसृतं तु तत्।
अक्षरं तेन चाप्युक्तमक्षीणत्वात्तथैव च।
अक्षरान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।
इत्येवं श्रूयते वेदे बहुधाऽपि विचारिते।

अक्षर की महनीयता का प्रत्यक्ष विष्णुपुराण में इस प्रकार मिलता है:—

द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्त्तं चामूर्त्तमेव च।
क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते।
अक्षरं तत्परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत्।
एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।

अक्षर-सृष्टि की इस अद्भुतता का परिचय अनेक ध्वनियों के निर्वचन से स्पष्ट मिलता है। शतपथ-ब्राह्मण, यास्क के निरुक्त तथा पुराणों में धातुगत अक्षर की सार्थक ध्वन्यात्मक परिणति का बहुशः मार्मिक संकेत मिलता है। श्रीमद्भागवत में वर्ण प्रतीति के संबंध में इस प्रकार संकेत मिलता है: "स एष जीवो विवर प्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहा प्रविष्टः।" मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा, स्वरो वर्ण इति स्थविष्टः।" वही जीव मूलाधारादि चक्रों से उत्पन्न

होकर परारूप नाद-ध्वनि से प्रथम मूलाधार चक्र में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसका मनोमय सूक्ष्म रूप मात्रा, स्वर, वर्ण में परिणत होकर स्थूल स्वरूप-वाला हुआ।

'पाणिनीय-शिक्षा' को "शास्त्रानुपूर्वं तद्विद्याद्यथोक्तं लौकवेदयोः, कहा गया है। उससे अक्षर-सृष्टिका परिचय इस प्रकार प्राप्त होता है:—

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात्प्रयत्नानुप्रदानतः।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत।

आत्मा बुद्धि के द्वारा वक्तव्य-विषय से मिलकर बोलने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है। मन जठराग्नि को ताड़ित करता है और कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है। अनुप्राणित वायु गलबिल का धक्का खाकर मुख को प्राप्त करता है और वर्णों की प्रतीति कराता है। उन वर्णों का विभाग पाँच प्रकार से कहा गया है। स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान इन पाँच प्रकारों से वर्ण तत्त्वज्ञों नेउ से कहा है। वर्णों के प्रयोग के लिए अत्यन्त सावधानी से काम लेने का निर्देश है। जैसे व्याघ्री अपने पुत्र को दाँतों से पकड़ती है, पर इतनी सावधान रहती है कि न तो दाँत उसके शरीर में चुभते हैं और न दाँतों से छूट कर वह गिरने पाता है:—

व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्।

वर्णों का प्रयोग सतर्कतापूर्वक न करने से लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक संभावना रहती है। कहा जाता है, कि वृत्रासुर ने इन्द्र को पराजित करने के लिए यज्ञ कराया, पर याज्ञिकोंने मंत्र के स्वर को बदल दिया, उसे पराजित होना पड़ा। इसका परिचय देते हुए शिक्षाकार ने कहा है:—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

इसीलिए 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः, कहा गया है। शक्ति के अस्तित्व को 'अर्द्धमात्रा स्थिता' माना गया है :—

अर्द्धमात्रा महेशानी बिन्दुनादस्वरूपिणी। शिव म० पु०
अर्धमात्रा महेश्वरी। देवी भागवत।

देवी भागवत में शक्ति के बीज "ह्रीं" का परिचय देते हुए कहा गया है :—

हकारः स्थूलदेहः स्याद्रकारः सूक्ष्मदेहकः।
ईकारः कारणात्मासौ ह्रींकारोऽहं तुरीयकम्।

महर्षि पतञ्जलि ने वर्णसृष्टि की सृष्टिव्यापिनी अक्षय-महिमा की संस्तुति करते हुए कहा है :—

सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्र-तारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयते।

इस प्रकार आर्ष-प्रतिभा वर्ण-प्रतीति को ही सब प्रकार की सिद्धियों की उपलब्धि की साधना स्वीकार करती है। जो हमारी लिपि की वैज्ञानिकता द्वारा पूर्णतया अनुमोदित है। इसीलिए दिव्यभाव की समस्त ध्वनियों का वर्णनिष्ठता मूलक निर्वचन हमें संस्कृत वाङ्मय में सर्वत्र मिलता है। अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि साहित्य-सिद्धान्तों द्वारा इसकी पूर्णपुष्टि हुई है। कविवर कालिदास ने शिशु रघु की वर्ण-शिक्षा को समस्त ज्ञान का हेतु सिद्ध करते हुए कहा है :—

लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयम्,
नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्।

साहित्य सम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है :—

मेरे माय बाप दोउ आखर, हौं शिशु-अरनि अरो।

कविवर निरालाजी ने वर्ण-चमत्कार में समस्त-सृष्टि के रहस्य का अनुभव किया है :—

वर्ण-चमत्कार।

एक एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।
पद-पद चल बही भाव-धारा,
निर्मल कल-कल से बँध गया विश्व सारा,
खुली मुक्ति बन्धन से बँधी फिर अपार—
वर्ण चमत्कार।

———

वेदों में शब्द-तत्त्व

हमारे राष्ट्र के जीवन-तत्त्व-द्रष्टा महर्षियों की प्रतिभा अमृत-वर्षिणी है। शब्द ब्रह्म की अनन्त विभूतियों के अमृतमय रूप का इसने प्रत्यक्ष किया है। स्वयं अनुभव करते हुए उससे सामान्य-जन-जीवन को अनुप्राणित किया है। जीवन-तत्त्व के पूर्ण-दर्शन का यह अक्षय-वैभव भारतीय संस्कृति तथा प्रकृति का प्राण है। इसकी साधनामयी पूर्ण-तत्वानुभूति के बिना देश में बढ़ते हुए क्षयोन्माद, नैराश्य-रुदन तथा क्षुद्रतर-सीमाबद्ध-स्वार्थ के मोहावेश को किसी प्रकार भी दूर नहीं किया जा सकता है। ऋषियों की मेधा मृत्यु-पूजक नहीं, किन्तु अमृतानुभव-काङ्क्षिणी है। ऋग्वेद के माननीय महर्षि की यह अभिलाषा सर्वथा अभिनन्दनीय है:—

यत्र ज्योतिः अजस्रं, यस्मिन् लोके स्वर हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमान्! अमृते लोके अक्षिते।

जहाँ शाश्वत् ज्ञानज्योति अर्थात् विद्या का प्रकाश है, जिस देश में सब प्रकार का सुख रक्खा हुआ है, उस अमृतमय अक्षय-लोक में मुझे रखिए। पूज्य ऋषि को जीवन-प्रवाह से सर्वथा निरपेक्ष रूप में अमृत-प्राप्ति की आकाङ्क्षा नहीं है, किन्तु वे चाहते हैं:—

यत्र आनन्दाश्च मोदाश्च, मुदः प्रमुदः आसते।
कामस्य आप्ताः कामाः, तत्र माम् अमृतं कृधि।

जहाँ विद्यासुख और विषयानन्द दोनों हैं, जहाँ पदार्थ सुख और पारिवारिक सुख विद्यमान है, उस देश में मुझे अमृत कीजिए। इस अमृत-भाव की संकल्पात्मक-तन्मयता ने संमान्य महर्षि में यह विश्वास भर दिया है:—

ये इत् तद् विदुः ते अमृतत्वमानशुः। ऋ. १।१६५।२३

जो भी उसे जानते हैं, वे अमृत-भाव को प्राप्त करते हैं। इस अमृत-भाव

की उपलब्धि के द्वारा सृष्टि के प्रवाह में भी महर्षि ने अमृत का अनुभव किया है, जिसका परिचय इस प्रकार प्राप्त हो रहा है: —

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। (ऋ. १०। १३। १)

जीवन को अमृत बनाने वाले महर्षि को प्रकृति की विभिन्न स्थितियों में भी अमृत का अनुभव हुआ है:—

अमृतं वै आपः। (तै. आर. १ २६)

एतद् वै हविः अमृतं यदग्निना पचन्ति। (शत. ६। २। १। ९)

अमृत निश्चित रूप से जल है। यह हवि निःसन्देह अमृत है, जिसे अग्नि से पकाते है। इस अमृत-तत्त्व का परिचय अनेक रूपों में ऋषि ने दिया है। उदाहरण के लिए कुछ दृश्य दर्शनीय हैं:—

ऊर्ध्व मूलो अवाक् शाखः, एष अश्वत्थः सनातनः।
तद् एव शुक्रं, तद् ब्रह्म तद् एव अमृतम् उच्यते।

ऊपर जिसका मूल है, नीचे जिसकी शाखायें हैं। ऐसा यह अनादि संसार रूपी पीपल का वृक्ष है। इसका जो मूल है, वही निश्चय रूप से शुक्र है, वही ब्रह्म है और वही निस्संदेह अमृत कहा जाता है। मनुष्य के हृदय के जब वासनामय बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं, तब वह अमृत हो जाता है:—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्य इह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति—

मनुष्य की अमृतत्व-प्राप्ति का साधन आत्मतत्त्वोपलब्धि ही है, इसका परिचय देते हुए ऋषि ने कहा है:

यस्मिन् द्यौः पृथिवी च अन्तरिक्षम् ओतं मनः सह प्राणैः च सर्वे।
तम् एव एकं जानथ आत्मानम् अन्याः वाचो विमुञ्चथ, अमृतस्य एष सेतुः।

जिसके भीतर द्यौलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा इन्द्रियों के साथ मन गुँथा हुआ है, उसी एक आत्मा को जानना चाहिए, अन्य बातें छोड़ देनी चाहिए। क्योंकि यह आत्मा ही अमृतमय जीवन-प्राप्ति का सेतु है। ब्रह्म-भाव को अनेक मंत्रों के द्वारा अमृत-रूप में महर्षि ने दिखाया है। यह ब्रह्म रूप अमृत चारों ओर व्याप्त है:—

ब्रह्म एव इदम् अमृतं पुरस्तात्, ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्च उत्तरेण। अधश्च ऊर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्म एव, इदं विश्वम् इदं वरिष्ठम्।

यह अमृत रूप ब्रह्म ही आगे और यही पीछे है, यह ब्रह्म ही दायें और यही बायें है। यही नीचे और यही ऊपर फैला हुआ है। यही सब कुछ है और यही सर्वश्रेष्ठ है। इस ब्रह्म को जानने वाला प्राणी भी ब्रह्म स्वरूप अर्थात् अमृत हो जाता है। इसका परिचय उपनिषद की इन पंक्तियों से स्पष्टरूप में मिल रहा है:—

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद, ब्रह्म एव भवति, न अस्य अब्रह्मवित् कुले भवति। तरति शोकं, तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तो अमृतो भवति।

जो प्राणी निश्चित रूप से उस सबसे महान् ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उसके वंश में ब्रह्म को नहीं जानने वाले नहीं पैदा होते हैं। ऐसा मनुष्य शोक तथा पाप को पार कर जाता है और हृदय के वासनामय बन्धनों से मुक्त होकर अमृत हो जाता है। ब्रह्म की भाँति ही अन्तर्यामी आत्मा को अनेक मंत्रों के द्वारा ऋषि ने अमृत सिद्ध किया है। इस प्रकार आत्मतत्व को बाहर और भीतर सर्वत्र व्याप्त दिखाते हुए हमें अमृतमय जीवन का पूर्ण प्रत्यक्ष कराया है। जीवन की सार्थकता इस अमृत भाव की उपलब्धि में ही है। नहीं तोः—

इह एव सन्तो अथ विद्मः तद् वयं न चेद् अवेदीः महती विनष्टिः।
ये एतद् विदुः अमृताः ते भवन्ति अथ इतरे दुःखम् एव अपियन्ति।

यदि हम लोग इस लोक में रहते हुए ही उस ब्रह्म को जान लें, तो उचित है, अन्यथा उसे न जानने वालों के लिए बार-बार मरना ही निश्चित है। जो इस ब्रह्म को जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, दूसरे दुःख ही दुःख बार-बार भोगते हैं। अमृत-भाव के समान ही अभय-संकल्प की कामना भी अनेक मंत्रों में सुन्दर-रूप में मिलती है। सर्वत्र अभयानुभूति की कामना करते हुए ऋषि ने कहा है:—

अभयं नः करति अन्तरिक्षम्, अभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चाद् अभयं पुरस्ताद्, उत्तराद् अधराद् अभयं नो अस्तु।
(अथर्व. १९। १५। ५)

अभयं मित्राद् अभयम् अमित्राद्, अभयं ज्ञाताद् अभयम् पुरो यः।
अभयं नक्तम् अभयं दिवा नः, सर्वाः आशाः मम मित्रं भवन्तु।
(अथर्व. १९। १५। ६)

अभय भावना के समान ही प्रियत्त्व की भी चतुर्दिक् भावना करते हुए अथर्व के ऋषि ने कहा है : —

प्रियः देवानां भूयासम् प्रियः प्रजानाम् भूयासम्,
प्रियः पशूनां भूयासम्, प्रियः समानानां भूयासम्। (अथर्व. १७। १। ३०)
प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यतः, उत शूद्रे उतार्ये। (अथर्व १६। ६२। १)

हम विद्वानों के प्रिय हों, प्रजाओं के प्रिय हों, पशुओं के लिए प्रिय हों, बरावरी के जाति-भाइयों के लिए प्रिय हों। मुझे ब्राह्मणों में प्रिय बनाएँ, क्षत्रियों में प्रिय बनायें। मुझे सब देखने वाले प्राणियों में प्रिय बनाएँ और रुद्रों तथा वैश्यों में मुझे प्रिय बनाएँ। प्रकाश के प्रति हार्दिक-निष्ठा ऋषि ने प्रकट की है:—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु. रुचं राजसु नः कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु, मयि धेहि रुचारुचम्। (यजु० १८। ४८)

हमारे ब्राह्मणों में प्रकाश दें, हमारे क्षत्रियों में प्रकाश दें। हमारे वैश्यों और शूद्रों में प्रकाश दें। मुझे प्रकाश पर प्रकाश दें। ऋण-मुक्त जीवन व्यतीत करने की इच्छा ऋषि ने हृदय से व्यक्त की है: —

अनृणाः अस्मिन् अनृणाः परस्मिन्, तृतीये लोके अनृणाः स्याम्।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः, सर्वान् पथो अनृणाः आक्षियेम।
(अथर्व० ६। ११७। ३)

हम इस लोक में ऋण मुक्त हों, दूसरे लोक में ऋण मुक्त हों, तीसरे लोक में ऋण मुक्त हों। देवयान तथा पितृयाण मार्ग से जो लोक प्राप्त होते हैं, उन

सब लोकों में ऋण-मुक्त हो हम निवास करें। यशःसंकल्प-निष्ठा मनुष्यत्व की सर्वाधिक महीयसी विभूति है. इससे मनुष्य के आकर्षण का प्रभाव पूर्णतया प्राणवान् बन जाता है। हमारे ऋषि की अन्तरात्मा एतदर्थ कितनी समुत्सुक है, इसका परिचय इन मंत्रों से स्पष्ट मिल रहा है:—

यशसं मा इन्द्रो मघवान् कृणोतु, यशसं द्यावा पृथिवी उभे इमे।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु, प्रियो दातुः दक्षिणायाः इह स्याम्।
यथा इन्द्रो द्यावापृथिव्योः यशस्वान्. यथा आपः ओषधीषु यशस्वती।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम्। (अथर्व. ६। ५८। १)

धनवान् इन्द्र मुझे यशस्वी बनाएँ; ये दोनों द्यौ और पृथिवी मुझे यशस्वी करें। देवों के देव सविता मुझे यशस्वी बनाएँ, यश की दक्षिणा देने वाले आप का मैं प्रिय बनूँ। जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी दोनों में इन्द्र यशस्वी हैं, जिस प्रकार गेहूँ, जौ, चना, व्रीहि आदि ओषधियों में जल यशवाला है, उसी प्रकार सब विद्वानो में, सब मनुष्यों में हम यशस्वी बनें। मेधा-प्राप्ति को जीवन-साधना की पूर्णता की चरम-आधार-शक्ति मान कर ऋषि ने एतदर्थ बार बार निवेदन किया है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को देखा जा सकता है:—

मेधाम् अहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मभूताम् ऋषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः, देवानाम् अवसे हुवे। अथर्व, ६।१०८।२)
यां मेधाँ देवगणाः पितरश्च उपासते।
तया माम् अद्य मेधया, अग्ने ! मेधाविनं कुरु। (यजु० ३२।१४)
मेधां मे वरुणो ददातु, मेधाम् अग्निः प्रजापतिः।
मेधाम् इन्द्रश्च वायुश्च, मेधां धाता ददातु मे। (यजु० ३२।१५)

सर्वश्रेष्ठ, वेदादि विविध विद्याओं वाली, विद्याओं के वेत्ताओं की प्रिय, मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों से संस्तुति प्राप्त, ब्रह्मचारियों से भलीभाँति पान की गई मेधा शक्ति को मैं देवताओं के बीच रक्षा के लिए बुलाता हूँ। देव-गण तथा पितृ-गण जिस मेधा-शक्ति की उपासना करते हैं। हे अग्निदेव ! उस मेधा-शक्ति से मुझे मेधावी कीजिए। दुःखों के निवारक वरुण देव मुझे मेधा दें, सबके अग्रणी अग्निदेव मुझे

मेधा दें। प्रजाओं के स्वामी मुझे मेधा दें। परमैश्वर्यवान्, सबके प्राण तथा सब के स्रष्टा परमात्मा मुझे मेधा दें। पुरुषत्व का अभिनन्दन तथा उसकी पूर्णता का स्वर अनेक मंत्रों में ध्वनित हुआ है:—

पुरुष एवेदं सर्वम्, यद् भूतम् यच्च भव्यम्।

उत अमृतत्त्वस्य ईशानो, यद् अन्नेन अतिरोहति। (ऋ०१०।६०।२)

पुरुष ही सब कुछ है। जो अब तक हुआ है और जो होगा, वह पुरुष ही है। वही अमृत भाव का स्वामी है, जो अन्न से बढ़ता है। अनेक-मंत्रों द्वारा सूर्य को दिव्य शक्ति के रूप में संस्तुत किया गया:—

सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषश्च। ऋ० १।११५।१)

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं पारायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।

सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानाम् उदयति एष सूर्य्यः।

सूर्य जड़ और चेतन की आत्मा है, विश्वरूप, सब रोगों के हन्ता, सब के लिए ज्ञान के दाता, सबको तपाने वाले, परमगतिस्वरूप उस अद्वितीय-प्रकाश को विद्वानों ने देखा है, जो सहस्रों किरणों वाला, सैकड़ों प्रकार से वर्त्तमान प्रजाओं का प्राण यह सूर्य उदित हो रहा है। इसी प्रकार अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, मरुत, प्रजापति आदि शब्द ऋषि मेधा के परम प्रकाश का अनुभव कराते हैं। जिनके पूर्ण-परिचय से प्रकृति के सनातन रहस्य का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। प्रतीकात्मक-भिन्नता में आत्मतत्वानुभूति की पूर्णता का प्रत्यय कराने के साथ प्रतीकात्मक-समष्टि में एकात्मता की प्रतीति भी ऋषि ने कराई है:—

इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः, अथो दिव्यः सः सुपर्णः गरुत्मान्।

एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः।

(ऋ० १।१६४।४६)

उस सर्वाग्रणी जगद्गुरु परमात्मा को इन्द्र, मित्र और वरुण कहते हैं, वही द्युलोक में प्रकट स्तुत्य सुपर्ण (सूर्य्य) है। उस एक सर्वत्र अस्तित्व-मय परमात्मा को बुद्धिवान् लोग अनेक प्रकार से कहते हैं। कोई अग्नि, कोई यम, कोई मातरिश्वा कहते हैं। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग वैदिक भाषा में अत्यन्त गौरव के साथ हुआ है, परन्तु बाद में इसका प्रयोग इस रूप

में नहीं मिलता है। 'स्कम्भ' शब्द का प्रयोग वैदिकभाषा में सृष्टि के नियामक सत्य के रूप में हुआ है:—

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे,
स्कम्भो दाधार उरु अन्तरिक्षम्।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षड् उर्वी,
स्कम्भे इदं विश्वं भुवनम् आविवेश।

स्कम्भ ने द्यौ और पृथ्वी इन दोनों को धारण किया है, स्कम्भ ने ही विशाल अन्तरिक्ष को धारण किया है। इसी ने छओ दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर तथा नीचे) को धारण किया है, इसी में समस्त विश्व स्थित है। इस प्रकार यह स्कम्भ ब्रह्म-स्वरूप है, जिसका परिचय इस मंत्र से स्पष्ट हो रहा है:—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः, ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनम्, यश्च वेद प्रजापतिम्। (अथर्व०१०।७।१७)
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः, ते स्कम्भम् अनुसंविदुः।

इसी प्रकार 'उच्छिष्ट' शब्द का भी ब्रह्म के महिमामय अर्थ में प्रयोग हुआ है। प्राण स्वरूप ईश्वर की अचिन्त्य-महिमा का अनुभूत्यात्मक अभिव्यञ्जन अनेक मंत्रों में मिलता है। ऋषि ने पूर्ण-विनय के साथ अपनी भक्ति का परिचय देते हुए कहा है:—

प्राणाय नमो यस्य सर्वम् इदं वशे।
यो भूतः सर्वस्य ईश्वरः, यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्। अथर्व. ।११।६।१।

उस प्राण को नमस्कार है, जिसके वश में यह सब संसार है, जो सब का ईश्वर है, जिसमें यह सब अच्छी तरह स्थित है। इस प्राण-शक्ति की सृष्टि-व्यापिनी महिमा का अभिनन्दन करते हुए महर्षि हृदय अतृप्त ही रहता है:—

प्राणो ह सर्वस्य ईश्वरः, यत् च प्राणिति यत् च न। अथर्व. ११।६।१
प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री, प्राणं सर्वे उपासते।
प्राणो ह सूर्यः चन्द्रमाः, प्राणम् आहुः प्रजापतिम्। अथर्व. ११।६।१२

प्राण निर्भ्रान्त-रूप से सबका ईश्वर है, जो निश्चित् रूप से श्वास लेता है, नहीं भी लेता है। प्राण विराट् (सर्वव्यापी ईश्वर) तथा प्राण ही जगद्गुरु है। सब लोग प्राण की उपासना करते हैं। प्राण ही चन्द्रमा और सूर्य है। प्राण को ही विद्वज्जन प्रजापति कहते हैं। इस प्राण रूप ब्रह्म से समस्त-सृष्टि को महर्षि ने अनुप्राणित दिखाया है :—

यद् इदं किंच जगत् सर्वं, प्राण एजति निःसृतम् ।
महद् भयं वज्रम् उद्यतं ये एतद् विदुः अमृताः ते भवन्ति ।
भयात् अस्य अग्निः तपति, भयात् तपति सूर्यः ।
भयाद् इन्द्रश्च वायुश्च, मृत्युः धावति पञ्चमः ।

जो कुछ यह जगत् है, वह प्राणरूप ब्रह्म से अभिव्यक्त हो, उसी में भयभीत हुआ गतिशील है। यह सबसे बड़ा तथा उठाये हुये वज्र की भाँति भयंकर है। जो यह जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं। इसके भय से अग्नि तपता है, इसके भय से सूर्य तपते हैं, इसी के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है। प्राण-शक्ति की महिमा का उद्घाटन उपनिषदों में अनेक स्थलों पर मिलता है। प्राण को ही सर्वव्यापी सत्य मान कर ऋषि ने कहा है:—

इन्द्रः त्वं प्राण तेजसा, रुद्रो असि परिरक्षिता ।
त्वं अन्तरिक्षे चरसि, सूर्य्यःत्वं ज्योतिषां पतिः ।

हे प्राण ! आप ऐश्वर्य से इन्द्र हैं, तेज से रुद्र हैं सब ओर से रक्षा करने वाले वायु के रूप में आकाश में चलते हैं। आप ही सब ज्योतियों के स्वामी सूर्य हैं। 'व्रात्य' शब्द का प्रयोग 'प्राण' शब्द की भाँति ही गौरव पूर्ण-अर्थ में वैदिक-वाङ्मय में मिलता है। प्राण को भी व्रात्य के रूप में अभिनन्दित करते हुए ऋषि ने कहा है :—

व्रात्यः त्व प्राण ! एक ऋषिः, अत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयम् आद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ।

हे प्राण ! आप अटूट व्रत वाले (व्रात्य) अद्वितीय ऋषि तथा सबको खाने वाले श्रेष्ठ स्वामी हैं। हम लोग आप को खाने योग्य वस्तु देने वाले

हैं। आकाश में चलने वाले आप हमारे पालक हैं। अथर्व वेद में व्रात्य को विराट्ब्रह्म के रूप में दिखाते हुए ऋषि ने कहा है :—

यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यः यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमा। योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पवमानः। अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो सभ्याप्राङ् नमो व्रात्याय! (अथर्व. १५ वां कांड)

यजुर्वेद में व्रात्यदेव का अभिनन्दन करते हुए कहा गया है:—

नमो व्रात्याय व्रात्यानाम् पतये नमः।

मनुजी के समय में व्रात्य शब्द से संस्कार-शून्य-जनों की हीनता की प्रतीति होने लगी थी। जिसके संबंध में इन्होंने लिखा है:—

सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः।

इन्द्र शब्द के भी जिस ऐश्वर्य की दिव्यता एवम् पूर्णता के लिए वैदिक वाङ्मय में प्रयोग हुआ, उत्तर काल में नहीं मिलता है। ब्रह्मचारी के प्रति अथर्ववेद में बड़ी ऊँची आस्था मिलती है। अनेक मंत्रों में उसकी महिमा का गान किया गया है :—

आचार्यो ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिः विराजति, विराड् इन्द्रो भवद् वशी। अथर्व ११।७।१६,
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणम् इच्छते। ११।७।१७।
ब्रह्मचर्येण तपसा, देवाः मृत्युमुपाघ्नत। (अथर्व० ११।७।१६)

ब्रह्मचारी आचार्य होता है, ब्रह्मचारी प्रजा का स्वामी होता है। प्रजा-जनों का स्वामी हो कर संसार में सुशोभित होता है। वह ऐश्वर्यशाली तथा सबको वश में रखने वाला होता है। ब्रह्मचर्य-रूपिणी-तपस्या से राजा लोग राष्ट्र की रक्षा करते हैं, इसी से आचार्य-गण मनुष्य-मात्र को ब्रह्मचारी होने के लिए इच्छा करते हैं। ब्रह्मचर्य-रूप तप से इन्द्रियाँ मृत्यु को दूर हटाती हैं। पारिवारिक-जीवन के सुखमय-आदर्श की कल्पना वैदिक-साहित्य में

उच्चकोटि की मिलती है। अनेक मंत्रों में इसकी परमोत्तम झाँकी का प्रत्यक्ष ऋषि ने कराया है। अधोलिखित पंक्तियों से इसकी प्रतीति प्राप्त की जा सकती है:—

"सहृदयं सांमनस्यम्, अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यम् अभिहर्यत, वत्सं जातम् इवाघ्न्या (अथर्व० ३।३०।१)
अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मात्रा भवतु संमना।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्। (अथर्व० ३।३०।२)
मा भ्राता भ्रातरं द्विषन्, मा स्वसारम् उत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा, वाचं वदत भद्रया। अथर्व० (३।३०।३)"

"हे गृहस्थ जन। मैं आप लोगों को हृदय की एकता; मन की एकता और आपस में द्वेष के अभाव से लिए उपदेश देता हूँ। आप लोग एक-दूसरे के साथ इस प्रकार सद्भावना-पूर्ण व्यवहार करें, जिस प्रकार गाय अपने बछड़े को प्यार देती है। पुत्र पिता के संकल्प के अनुरूप पूर्णतया सत्क्रियाशील तथा माता के मन के अनुरूप व्यवहारशील बनें। पत्नी पति के लिए मधुर-शीतल, वाणी बोले। भाई-बहन आपस में द्वेष न करें। आप लोग एक ज्ञात तथा एक कर्मवाले बन कर मंगलमयी वाणी से आपस में बात-चीत करें।" इन उद्धृत पंक्तियों में हमारे राष्ट्र के पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के ऐक्यभाव की पूर्णता का मंगलमयमय संदेश भरा हुआ है। आज राष्ट्र-निर्माण के पुण्यक्षण में यह वैदिक-शील की भाषा हमारी- योजनाओं की सफलता के लिए पथ-प्रशस्त कर रही है। मंत्र का प्रत्यक्षर एकता और संगठन का आदर्श वरण करने के लिए प्रबुद्ध कर रहा है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों का मर्म-संदेश विचारणीय है:—

ज्यायस्वन्तः चित्तिनो मावियोष्ट संराधयन्तः सधुराः चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु बदन्तः एत, सध्रीची वाग् वः संमनसः कृणोमि।
(अथर्वं० ३।३०।५)

—:०:—

वेदों में वाक्-तत्त्व-दर्शन

जीवन-तत्व-दर्शन की अनुपमेय-विभूति ने हीं भारतीय-संस्कृति को अनन्त संघर्षों के बीच अमृत चारुता प्रदान की है। इस साधना में भाषा-शक्ति की शाश्वत् महनीयता का अनुसन्धान ही भारत की जगद्गुरुता का मूलाधार है। इसकी प्रतीति के लिए 'वग् वै ब्रह्म' की श्रुति अनेक रूपों में मिलती है। जब तप:शील मनुष्यों ने परमोज्ज्वल सत्कर्मों द्वारा वाणी को प्राप्त करने की योग्यता का अनुभव किया, तब शक्तिरूपिणी ने ऋषियों में प्रवेश किया। ऋषियों ने वाणी को प्राप्त कर जन-जीवन में प्रसारित किया। उसी वाणी को सात छन्द अथवा सात महर्षि गायक के रूप में बार-बार स्मरण करते हैं। इस प्रकार तपस्योपलब्ध वाणी की महनीयता का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वाणी-सूक्त ही है। जिसमें शक्ति-स्वरूपिणी वाणी ने अपना परिचय अनेक मंत्रों में झंकृत किया है। इस सूक्त के कुछ मंत्रों द्वारा वाणी की महनीय-शक्ति का परिचय इस प्रकार मिलता है :—

> अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः अहं धनानि संजयामि शश्वतः।
> मां हवन्ते पितरं न जन्तवो, अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्॥
> अहं भूमिम् अददाम् आर्याय, अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
> अहं अपो अनयं वावशानाः, मम देवासो अनु केतुम् आयन्॥
>
> ऋ० ४।२६।२

मैं सब प्रकार की विभूतियों की पूर्व से ही स्वामिनी हूँ। मैंने सर्वदा सब प्रकार के ऐश्वर्यों को अपने अधिकार में रक्खा है। पिता की भाँति सब प्राणी

धन प्राप्ति के लिए मेरी प्रार्थना करते हैं। दानशील-प्राणियों को भोगने योग्यधन मैं देती हूँ। मैंने अपने पुत्र आर्यों के लिए भूमि दी है। मैं दानी मनुष्यों के लिए धन की वर्षा करती हूँ। मैंने हीं बार-बार शब्द करने वाले जलों को पृथ्वी पर सब लोगों के लिए सुलभ किया है। विद्वान् लोग मेरे ही ज्ञान का अनुसरण करते हैं। सज्जनों को रुलाने वाले विद्वानों के द्वेषियों तथा निरपराध प्रजा पर प्रहार करने वालों के लिए मैं हीं धनुष को खींचती हूँ। अपने भक्तों के लिए सबको प्रमुदित करती हूँ। द्यौलोक तथा पृथ्वीलोक में मैं सब ओर से प्रविष्ट हूँ। इसीलिए वाणी की मंगलमयी ज्योति पर भारतीय ऋषि ने अपना पूर्ण विश्वास प्रकट करते हुए उसके सदुपयोग का रहस्य-दर्शन इस प्रकार कराया है:-

यथा इमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्यः ब्रह्म राजन्याभ्यां, शूद्राय च, अर्याय च, स्वाय च, अरणाय च, प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुः इह भूयासम्, अयं मे कामः समृध्यताम् उप मा अदो नम तु। यजु० २६।२

हे ब्राह्मण ! जिस प्रकार मैं इस कल्याणी वाणी को प्रकट रूप से कहता हूँ। उसी प्रकार आप भी सब मनुष्यों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, अपने तथा दूसरे लोगों से इस अभिलाषा से कहिये, कि मैं विद्वानों और दान देने वालों के लिए स्नेह का पात्र बनूँ। मेरी अभिलाषा पूर्णतया सफल हो, जिससे मुझे परलोक में इस कल्याणी वाणी का मूल वक्ता वह ब्रह्म प्राप्त हो।

वेद-वाणी की अप्रतिम-महनीयता के संबंध में ऋषि ने हृदय से अपना विश्वास प्रकट किया है। इसके प्रवचन करने वालों को भी श्रद्धा-पुष्पाञ्जलि अर्पित की है। उदाहरण के लिए इस मंत्र की भाषा के रहस्य को हृदयङ्गम किया जा सकताहै। अर्थात् वेद-वाणी को धारण करने वाले विद्वान् उस अमृत ब्रह्म के संबंध में सर्वदा प्रवचन करें, जो सबका आश्रय, सबकी हृदय-गुफा में विद्यमान तथा सत्य स्वरूप है। इस अमृत ब्रह्म के एक पाद को जगद् रूपिणी बैखरी में प्रकट होने पर भी, तीन पाद (पद परा, पश्यन्ती, मध्यमा) गुफा में स्थित के समान हैं। जो इस एक पाद के सहित उन तीनो पादों को जानता है वह पिता का पिता अर्थात् साक्षात् ब्रह्म है।

वाणी की इस अप्रतिम-महनीया-शक्ति की संस्तुति अनेक मंत्रों में मिलती है। इसकी मंगलमयी-उपलब्धि की ओर संकेत करते हुए ऋषि ने कहा है :—

याम् ऋषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः. अन्वैच्छन् देवाः तपसा श्रमेण।
ताम् देवीं वाचं हविषा यजामहे, सा नो दधातु सुकृतस्य लोके॥

तै० ब्रा० २।८।

जिस वाणी को मन्त्र-द्रष्टा बुद्धिमान् ऋषियों ने साधनात्मक विश्वास से प्राप्त किया है। विद्वानों ने ब्रह्मचर्य रूपी तप तथा बुद्धि के अशिथिल कर्मयोग से जिसका साक्षात्कार किया है। उस देवी स्वरूपा वाणी का श्रद्धा-भक्ति रूपी हवि से हम यजन करते हैं। वह सर्वदा हमको शुभ कर्म के लोक में क्रियाशील बनाये।

वेद-वाणी की इस अनुत्तम मंगल-कारिणी शक्ति का जब मंत्र द्रष्टा ऋषि ध्यान करते हैं। तब स्वभावत: वे इस विश्वास में प्रबुद्ध हो कर उसका इस प्रकार संस्तवन करते दिखाई पड़ते हैं :—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्त्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा ब्रजत ब्रह्मलोकम्॥

मैंने अभीष्ट-फल-प्रसवा वेदमाता अर्थात् वेद-वाणी की संस्तुति की है। द्विजों को पवित्र करने वाली वह आयु, प्राण, प्रजा पशु कीर्ति, धन तथा विद्या की ज्योति मुझे प्रदान कर इस प्रकार अनुप्राणित करे, कि तुम इस लोक का पूर्ण-सुख भोग कर अन्त में ब्रह्मलोक अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करो।

यह भारत की आदि-भाषा का दिव्यस्वरूप है। किसी भी वाङ्मय को जीवनव्यापी दिव्य-संकल्प की ऐसी अभयामृत-कल्पना ही अक्षय पूज्यत्व प्रदान करती है। भाषा की इस पूजनीय-प्रकृति के साथ उसके अनन्त-आकर्षण की चारुता का अप्सरा-प्रकृति के रूप में भी महर्षि ने साक्षात्कार किया है। भाषा की मनोहारिणी-रहस्यमयता का प्रत्यक्ष कराने लिए महर्षि ने कहा है:—

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन् न शृणोति एनाम्।
उत उ त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जाया इव पत्ये उशती सुवासाः॥

१०।७१।४

एक विवेक-शून्य मनुष्य देखता हुआ भी वाणी के पूर्ण रहस्य को नहीं देख पाता है और एक मूढ़ बुद्धि सुनता हुआ भी पूर्णतया नहीं श्रवण कर पाता है; किन्तु विशिष्ट-शक्ति-सम्पन्न एक सहृदय के लिये वह शरीर को इस प्रकार खोल देती है, जिस प्रकार ऋतु-स्नान के पश्चात् सुन्दर वस्त्रों से सजी हुई नारी पति के लिए अपने रहस्यमय शरीर को खोल देती है। यह भाषा की कला-मूर्ति है, जिसमें सृष्टि के नव-नव-निर्माण का सनातन रहस्य तिरोहित रहता है। इसके साथ भाषा की सुहृद्-मूर्त्ति उसके सप्राण-प्रभाव की प्रतीति कराती है, इसी से जीवन की व्यावहारिक उपयोगिता को पूर्णता मिलती है। विद्वज्जन-निष्ठा की मित्रता का आधार स्वाध्यायशीलता ही होती है। इसके विना वाणी उपयोगिता-शून्य अर्थात् प्रभावहीन हो जाती है। इसका परिच्चय कितने मार्मिक रूप में ऋषि ने दिया है:—

यः तित्याज सचिविदं सखायं, न तस्य वाचि अपि भागो अस्ति।
यद् ई शृणोति अलकं शृणोति, नहिं प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

ऋ० १०।७१।७

मित्रता को जानने वाले मित्र अर्थात् स्वाध्याय को जिस मनुष्य ने त्याग दिया है, उसका वाणी के ऐश्वर्य में कुछ भी भाग नहीं है। जो कुछ सुनता है व्यर्थ सुनता है, क्योंकि वह अच्छे कर्म के मार्ग को नहीं जानता है।

भाषा की स्वाध्यायशीलता के साथ उसके अर्थ की प्रतीति और उसकी अनुभूत्यात्मक साधना चरमोत्कर्ष विधायिनी होती है। वाणी के मर्मज्ञों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने लिए ऋषि ने कहा है :—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतम् आहुः, न एवं हिन्वन्ति अपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति मायया एष, वाचं शुश्रुवान् अफलाम् अपुष्पाम्॥

ऋ० १०।७१।५

वेद-शास्त्रादि के अशिथिल स्वाध्याय शील मनुष्य को वाणी की मित्रता में पक्के अनुभव वाला कहते हैं। वाणी के अच्छे ज्ञाता विद्वानों में कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता है। यह शिथिल स्वाध्याय वाला दूसरा व्यक्ति

झूठी, दूध न देने वाली गौरूपी वाणी के साथ फिरता है, जिसने वाणी को विना फूल अर्थात् अर्थ तथा विना फल अर्थात् अनुभव के सुना है। वाणी की उपलब्धि तथा उसके उपयोग के संबंध में अपने अनुभव का प्रत्यक्ष अनेक-मंत्रों में ऋषियों ने दिया है। इससे वाक्-तत्व के प्रति उनकी अतुल-निष्ठा का स्पष्ट परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद का यह मंत्र विचारणीय है :-

यज्ञेन वाचः पदवीयम् आयन्, ताम् अनु+अविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
ताम् आभृत्यावि+अदधुः पुरुत्रा, तां सप्त रेभाः अभि संनवन्ते॥

१०।७१।५

जब मनुष्य यज्ञ कर्म (श्रेष्ठतम कर्म योग) से वाणी की प्राप्ति की योग्यता के सौभाग्यभाजन हुए, तब उन्होंने ऋषियों में प्रविष्ट हुई उस वाणी को समझा। उसको लाकर अर्थात् शिष्यवृत्ति से प्राप्तकर जन-समष्टि में फैलाया उसे सात छन्द मधुर गायक के रूप में मिलकर बार बार झङ्कृत करते हैं। जो लोग वाणी-तत्व की पूर्ण मर्मज्ञता के अभाव में भी इधर-उधर के साधारण-आयास के द्वारा आत्म-प्रतारणा के कलुष-दम्भ की पूजा लेते हैं, उनके ऊपर व्यंग करते हुए ऋषि ने कहा है:—

इमे ये न अर्वाङ् न परः चरन्ति, न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
ते एते वाचम् अभिपद्य पापया, सिरी तन्त्रां तन्वते अप्रजयज्ञः॥

ऋ० १०।७१।६

जो मनुष्य न नैतिक कार्यों में योग देते है और न धार्मिक कार्यों में भाग लेते हैं। न वेद वाणी के पढ़ने-पढ़ाने में और न यज्ञ-कर्म में हाथ बटाते हैं। वे अज्ञानी पाप-वृत्ति से वाणी को प्राप्त कर स्वैरिणी-स्त्री की भाँति जाल को फैलाते हैं। वाणी की अभिव्यक्ति तथा उसकी व्यावहारिक प्रक्रिया पर भी ऋषि ने विचार करते हुए कहा है:—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

वाणी के चार पद हैं, जिनको विद्वान् ब्रह्मविद् ब्राह्मण जानते हैं। उन चार वाणियों में से तीन गुहा में अर्थात् परा, पश्यन्ती मध्यमा-नाभि से कण्ठ तक रहती हैं, इसलिए उनको कोई नहीं जानता है । तुरीय अर्थात् चौथी वैखरी वाणी सामान्यतया मनुष्य बोलते हैं। वाणी की अधोगति उसकी आसुरी हीनता का प्रत्यय कराती है। जिसका परिचय ब्राह्मण-ग्रंथों में स्पष्टतया ऋषि ने कराया है :-

न ब्राह्मणो म्लेच्छेत् (शत० ३।२।१।२४) (न राक्षसीवाचं वदेत्)।

यां वै दृप्तो वदति, याम् उन्मत्तः सा राक्षसी वाक् (ऐ०ब्रा०६।६)॥

वाणी के सत्य तथा असत्य दोनों रूपों पर ऋषि ने विचार किया है। वाणी के सत्य-स्वरूप का परिचय कराते हुए लिखा है :—

तत् एतत् पुष्पं फलं वाचः, यत् सत्यम्। स ह ईश्वरो यशस्वी कल्याण-कीर्तिः भवति, यो वाव पुष्पं फलं वाचः सत्यं वदति ॥

जो सत्य है, वह वाणी का पुष्प और फल है। जो निश्चित रूप से पुष्प और फल स्वरूप सत्य से युक्त वाणी को बोलता है, वह ऐश्वर्यशाली, यशस्वी तथा कीर्ति से युक्त होता है। सत्यस्वरूपा वाणी के परिचय के साथ ही असत्य वाणी के क्षणभंगुर प्रभाव का परिचय भी ऋषि ने इस प्रकार दिया है :—

अथ एतत् मूलं वाचः यद् अनृतम्। तद् यथा वृक्षः आविर्मूलः शुष्यति, स उद्वर्त्तते, एवम् एव अनृतं वदन् आविर्मूलम् आत्मानं करोति, स शुष्यति; स उद्वर्त्तते। ऐ० आ० २।३।६

यह जो झूठ है, वाणी का-मूल है। जैसे मूलवाला वृक्ष नग्नावस्था में सूख जाता है और उखड़ जाता है, उसी प्रकार असत्य बोलने वाला मनुष्य बिना ढँकी हुई जड़ों वाले वृक्ष के समान अपने को नग्नमूल वाला बना लेता है। वह सूख जाता है और उखड़ जाता है, अर्थात् सर्वदा के लिए अपने अस्तित्व को विनष्ट कर देता है।

वाणी के रहस्य-दर्शन का इतना गंभीर परिचय हमारी वाणी की विकास परम्परा के आरंभ में ही महर्षियों ने देकर आर्य-संस्कृति को सर्वदा के लिए आँखें दे दी हैं। इसीलिए बार-बार कहा है "सत्यं वै चक्षुः" अर्थात् सत्य ही नेत्र है। वाणी के इस रहस्य का अनुभव ऋषियों को तपः संकल्प के जागरण द्वारा प्राप्त हुआ है, इसका परिचय कराते हुए आलस्य-जन्य-प्रसुप्ति को दूर करने के लिए कहा है :—

यो जागार तम् ऋचः कामयन्ते, यो जागार तम् उ सामानि यन्ति।
यो जागार तम् अयं सोमः आह, तवाहम् अस्मि सख्ये न्योकाः।।

५।४४।१४

जो जागता है, उसे ऋग्वेद की मंत्रवाणी प्राप्त होती है। जो जागता है, उसे निश्चय रूप से यजुर्वेद तथा सामवेदों का मंत्र-स्वर सहज ही प्राप्त हो जाता है। जो जागता है, उससे सोम (चंद्र) कहते हैं,—"मैं अच्छा-निवास देने वाला आपका मित्र हूँ। इसलिए अथर्व वेद के ऋषि ने पूर्वजों के तपः संकल्प के ऋण का बोध कराते हुए, उससे मुक्त होने के लिए इस प्रकार सावधान किया है :—

भद्रम् इच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदः तपो दीक्षाम् उपनिषेदुः अग्र।
ततो राष्ट्रं बलम् ओजश्च जात, तद् अस्मै देवाः उप संनमन्तु।।

देश का मंगल चाहते हुए सुख और सुख के साधनों को जानने वाले ऋषियों ने जिस तप और दीक्षा को प्राप्त किया। उससे उन्हें राज्य-सुख, बल तथा तेज प्राप्त हुआ। इसलिए देश का मंगल चाहने वाले विद्वान् इस तप और दीक्षा-रूपी साधना की ओर झुकें। वाणी-तत्व की महनीयता की प्रतीति द्वारा ही परमाह्लाद की प्रतीति होती है, क्योंकि वाणी का मूलाधार ब्रह्म है। इसके संबंध में जिज्ञासा प्रकट करते हुए उपनिषद् के ऋषि ने कहा है :—

केन इषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केन इषितं वाचम् वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं कः उ देवो युनक्ति।।

किसके अभीष्ट का साधक होते हुए, किसके द्वारा प्रेषित मन विषयों में

गिरता है? किससे आज्ञा प्राप्त कर मुख्य-प्राण चलता है? किसकी इच्छानु-रूपिणी इस वाणी को लोग बोलते हैं? आँख तथा कान को कौन देखने एवम् सुनने के लिए प्रेरित करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए संमान्य ऋषि ने कहा है :—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः, यद् वाचो ह वाचं, स उ प्राणस्य प्राणः
चक्षुषः चक्षुः अति मुच्य धीराः प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृताः भवन्ति।

जो श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन तथा वाणी की वाणी है। वही प्राण का प्राण और नेत्र का नेत्र है। उसके ज्ञाता विद्वान् विषयों के बन्धन से मुक्त हो कर शरीर से इस संसार को छोड़ कर जरामरण से रहित हो जाते हैं।

इस प्रकार महर्षि ने वाणी को केवल व्यावहारिक जीवन की पूर्णताविधा-यिनी शक्ति के रूप में हीं नहीं स्वीकार किया है, किन्तु अन्त: भक्ति की पूर्णता के प्रतीत्याधायक रूप में भी अभिनन्दित किया है। अनिर्वचनीय प्रकाश की प्रेरकता ही वाणी की अभिव्यक्ति का मुख्याधार है, इसका परिचय देने के लिए महर्षि-प्रवर ने कहा है :—

यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग् अभि+उद्यते।
तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि, न इदं यद् इदम् उपासते॥

जो वाणी के द्वारा पूर्ण-परिचय का विषय नहीं होता है, जिसके द्वारा वाणी अभिव्यक्त होती है। उसी को ब्रह्म समझिए। इसको नहीं, जिसे लोग वाणी का विषय बनाते हैं। वाणी की राष्ट्रव्यापिनी-शक्ति की उपलब्धि का ध्यान करते हुए अथर्ववेद के ऋषि की दृष्टि कितनी मार्मिक है :—

यावती द्यावा पृथिवी वरिम्णा यावत् सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीम् तामितो निरवादिजम्॥ (४।६।२)

जितनी दूर तक द्यौ और पृथ्वी विस्तृत हैं, उतनी दूरी तक विष को नष्ट करने वाली इस वाणी को मैं मुख से बोलूँ। ऋषि की इस महत्वाकाङ्क्षा से हमारे सांस्कृतिक विश्वास का अच्छा परिचय प्राप्त हो जाता है।

उपनिषद् की भाषा में वाणी की व्यावहारिक उपयोगिता पर विचार करते

हुए सनत्कुमार जी ने नारद जी से कहा है; कि यदि वाणी नहीं होती तो, धर्माधर्म, सत्यासत्य, सद्-असद् तथा प्रिय-अप्रिय का ज्ञान संसार को नहीं होता। वाणी ने ही सब कुछ का ज्ञान कराया है :—

यद् वै वाक् न अभविष्यत्, न धर्मो न अधर्मो व्यज्ञापयिष्यत्, न सत्यं न अनृतं, न साधु न असाधु, न हृदयज्ञो न अहृदयज्ञः। वाग् एव एतत् सर्वं विज्ञापयति।

इस प्रकार वाक्-तत्व का अत्यन्त मार्मिक प्रत्यक्ष वैदिक भाषा से हमें प्राप्त होता है। इसके चिन्तन से हमारे वाक्-तत्व की परिचयदृष्टि को पूर्णता मिलती है।

वेदों में कवि और काव्य

वैदिक साहित्य भारतीय-संस्कृति-सभ्यता और इतिहास का अमृत वैभव है। कवि और काव्य के सम्बन्ध में वेदों में जिस सत्यानुभूति की व्यंजना हुई है 'वह भारतीय काव्य-शास्त्र बोध के लिये अध्ययन का मूलाधार है। कवि और काव्य शब्द का प्रयोग प्रेस की सुविधाओं के कारण इतने भ्रामक अर्थ में होने लगा है, साधारण तुक बन्दी करने वाले व्यक्ति भी महाकवि का सम्मान विज्ञापन द्वारा प्राप्त कर कृतार्थ हो रहे हैं। जिस काव्य-तत्व-बोध को प्राप्त कर वैदिक ऋषियों ने—संस्तुति करते हुये कृतार्थता का अनुभव किया है। अनुभव की पूर्णता तथा आत्म-निरीक्षण की दृष्टि से किसी दशा में हीन-मूल्य उन्हें नहीं कहा जा सकता है। यह कहना सर्वथा निरर्थक होगा, कि प्राचीन अनुभवों का मूल्य-ऐतिहासिक दृष्टि से सीमा-बद्ध है। इतिहास की भी आवृत्ति होती है और अनुभवों की अर्जित विभूति के सदुपयोग से कोई सप्राण ऐश्वर्य-भोग का अधिकारी होता है।

अग्नि का आविष्कार मानव के सांस्कृतिक इतिहास की महनीय शक्ति है। जिस प्रकार अग्निदेव के प्रकाश से सभ्यता और संस्कृति का व्यवहारिक रूप आदर्श में परिवर्तित हुआ है उसी प्रकार अग्नि के मानवीय वैभव का अभिनन्दन भी हृदय खोल कर भारतीय मनीषियों ने किया है।

कवि के गौरवमय स्वरूप का दर्शन इन्हीं अग्निदेव के द्वारा भारतीय ऋषियों को प्राप्त हुआ है। इसीलिये अनेक मंत्रों में अग्नि के रूप में ऋषियों ने कवि प्रकृति

की संस्तुति की है और संस्तुति के लिए निवेदन किया है। उदाहरण के लिए यह मंत्र द्रष्टव्य है :—

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माण मध्वरि।
देव ममी व चातनम्। ऋ० १।१२।७

यहाँ कवि शब्द का क्रान्तिदर्शी और अग्नि शब्द का अग्रणी-अर्थ में प्रयोग हुआ है। उसकी स्तुति के लिए ऋषि ने संकेत किया है। अग्निदेव की संस्तुति कवि के रूप में करते हुए अनेक रूपों में ऋषि के भावोद्गार व्यक्त हुए हैं।

त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातऋ्तः कविः।

त्वां विप्रासः समिधानं दीदिव आविवासन्ति वेधसः॥ ऋ० ८।६०।५

हे अग्ने! अग्रणी देव, आप ही रक्षा करने वाले, ज्ञान स्वरूप कवि हैं। हे देदीप्यमान् तेजस्विन् परम प्रकाशमय! स्तुति करने वाले, मेधावी जन आपको भजते तथा साक्षात्कार करते हैं।

कवि के संबंध में ऋषि की आस्था इतनी महनीय है, कि अग्नि को अनेक रूपों में देख कर भी वे कृतार्थ नहीं होते हैं :—

,पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः।'

सोमदेव की उपासना में जब ऋषि तन्मय होते हैं, उस समय कवि के रूप में उसकी संस्तुति करते हुए वे आनन्द में बेसुध हो जाते हैं:

त्वं विप्रस्त्वं कविर्मधु प्रजातमन्धसः।
यदेषु सर्वथा असि॥ साम० ५।२।१

हे सोम! आप अन्नमय कोश से प्राणधारिणी शक्ति रखनेवाले मेधावी कवि के रूप में साक्षात् अमृत हैं।

कवि साक्षात् परमात्मा की मूर्त्ति होता है, वह जन मानस को पवित्र करता है और लोक-मंगल-विरोधी शक्तियों को नष्ट करता है, उसकी अनन्त महिमा का चिन्तन करते हुए ऋषि ने लिखा है:—

एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधितोषते ।
पुनानो घ्नन्नपद्विषः ॥ ५।२।१। साम०

महाकवि अपनी लोकोत्तर सर्जनात्मिका प्रतिभा द्वारा अतीन्द्रिय दिव्य-शक्ति की ओर गति का पथ प्रशस्त करता है, ऋषि जब उसकी अद्भुत-शक्ति का स्मरण करता है, तब भाव मग्न होकर कहता है :—

मधुमन्तं तनूनपाद्यज्ञं देवेषु नः कवे ।
अद्या कृणु ह्यूतये ॥ ६।१।१।

कवि की पूज्यतमा-प्रकृति को ऋषि ने अनन्य निष्ठा से देखा है, उसे यह अनुभव हुआ है, कि यह लोक मंगल का सर्वाधिक पूज्य रूप है ।

कवि और काव्य दोनों के सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों ने जिस रूप में अपने विश्वास की व्यंजना की है, वह भारतीय चिन्तन दृष्टि का सर्वथा अक्षय-मौलिक वैभव है । कवि शब्द का प्रयोग जहाँ इन्द्र, अग्नि, वरुण, मरुत, सोम, रुद्र आदि वैदिक देवों के रूप में संस्तुतिमयी शतशः ऋचाओं में प्राप्त होता है । उसकी उपासना के भाव को प्रबुद्ध करने के लिये बार-बार ऋषि की आत्मा उत्सुक दिखाई देती है । कवि को सूर्य के समान मंगलमय पथ का प्रदर्शक माना है । वह सोम है । अपने अमृत से सबको सौम्यगुणों से युक्त बनाता है:—

ऋधक्सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवा कवे ।
पवस्व सूर्य्यो दृशे ॥

कवि अपने भाव-समुद्र की कल्पना-तरंगों में आनन्दमग्न रहता है । लोक मंगल का वह सर्वप्रिय आदर्श होता है, आत्मा रूपी शिल्पी को धारण करते हुए वह सब ओर वेग से गतिशील रहता है:—

परिप्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधिश्रितः ।
कारुं विभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ ऋ० ६।१४।१।

अग्नि के रूप में कवि की महनीयता का जब ऋषि स्मरण करते हैं, तब जीवन के यज्ञ में उसकी ज्योति उन्हें मुग्ध करने लगती है और उनका यह स्वर फूट कर बहने लगता है:—

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि ।
अग्ने बृहन्तमध्वरे । ७।१।१२।

हे अग्ने ! अन्तर्यामिन् कवे ! ज्ञान, कर्म तथा उपासना प्रभृति जीवन-यज्ञों में व्यापक, सबसे महान तथा ज्योतिर्मय आपको हम ज्ञानमय मानस-यज्ञ में प्रदीप्त करते हैं । क्रान्तिदर्शी कवि सोम के रूप में अपनी दिव्य शक्ति से परमात्मा की ओर गतिशील रहते हैं । वैदिक ऋषि जब उनके इस महिमामय अस्तित्त्व का चिन्तन करते हैं, तब कहते हैं:—

कविर्वेधस्यापर्येषि माहिनमत्यो न मृष्टो अभिवाजमर्षसि । ५।२।१३

महाकवि के रस का पान मित्र, वरुण, अर्यमा करते हैं । इसलिये ऋषि ने उनकी संस्तुति करते हुये कहा है:—

रसं ते मित्रो अर्यमा पिबन्तु वरुणः कवे ।
पवमानस्य मरुतः । ऋ० ६।६४।२०

सच्चे कवि आनन्द की वर्षा करते हैं । तपः पूतज्ञान से पवित्र करते हैं, तथा सबके प्रियदर्शी बन कर पांडित्यमय तेज से आत्मसौन्दर्य की तन्मयता में सुशोभित होते हैं । महाकवि की इस लोकमंगलकारिणी शक्ति का अभिनन्दन करते हुये परम पूज्य ऋषि ने कहा है :—

सं देवैश्शोभते वृषा कविर्योनावधि प्रियः ।
पवमानो अदाभ्यः ।

आदर्श कवि विद्वानों में ज्ञान की रमणीय ज्योति भरने के लिये भेड़ के बालों के बने हुये कम्बलों के द्वारा अपने को छिपाये रहता है । संसार भर की विपत्तियों और बाधाओं को सहन करता तथा पार करता है । लोक मंगल कारिणी विद्या की ज्योति से समन्वित होता है । ऋषि ने कवि की इस रहस्य-मयी साधनाशीलता का परिचय देने के लिये कहा है :—

प्रकवि देव वीतयेऽव्या वारेभिरव्यत ।
साह्वान विश्वा, अभिस्पृधः । ३।२।४

प्रकृति की विभिन्नता के अनुरूप सत्य की अनन्त रूपिणी ज्योति का प्रत्यक्ष महाकवि की प्रतिभा का ही सुफल है। ऋषि ने इसका परिचय कराते हुए कहा है :—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

यद्यपि परमात्मा एक पक्षी के समान हैं, परन्तु विद्वान कवि उसकी अनेक प्रकार से कल्पना करता है। प्रकृति के मूल रहस्य का ज्ञान कवियों को ही होता है। वे तत्व दर्शन के लिये परम गोपनीय व्रत में रहते हैं। ऋषि ने उनकी महनीयता का परिचय कराने लिये लिखा है।

तासां निचिवत्यु कवयो निदानं घृत प्रतीका वयुनानिवस्ते। ११४।२

इस प्रकार कवि की महनीयता का अभिनन्दन ऋषि वाणी के द्वारा अनेक रूपों में उपलब्ध होता है। इसका परिचय कराने के लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। देश के साहित्य-स्रष्टा परम पूज्य वेदवाणी के द्वारा जब तक कवि स्वरूप का परिचय नहीं प्राप्त कर लेते है, तब तक उनकी कवि प्रकृति की ख्याति भारतीय दृष्टि से सर्वथा निराधार समझी जायगी। वेद मूलक भारतीय सभ्यता होने के कारण वैदिक आदर्शों के उपहास एवं उपेक्षा से देश का चरम अधोगमन हुआ है। जातियाँ मिटाई गईं, फल स्वरूप आठ हजार से ऊपर जातियाँ बन कर तैयार हो गईं। आज बौद्धिक उन्माद में यदि किसी प्रकार मशीन युग का आधिपत्य हमने स्वीकार कर लिया, तो व्यक्ति मनुष्य नहीं हो सकेगा, वह मशीन का एक पुर्जा हो जायगा। यदि हम किसी प्रकार भी अतीत के अनुभवों को स्वीकार करते हैं तो वेद मूलक दर्शनों की अप्रतिष्ठा, देश की एकता के सूत्र को कभी भी विछिन्न कर सकती है। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास को जो भारतीय सांस्कृतिक जीवनादर्श में महनीयता प्राप्त है, वह भारतीय काव्य संस्कृति में किसी दूसरे को नहीं प्राप्त हो सकी है। इसका कारण इनके कल्पना प्रवाह की श्रुतिमूलकता ही है। कवि की भाँति ही काव्य शब्द के ऊपर भी वैदिक दृष्टि से विचार पल्लवित नहीं हो पाया है। उक्ति चमत्कार का आग्रह मधुर विनोदशीलता के प्रतिनिधित्व के अनुरूप

उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। वेद वाङ्मय में यदि सत्य की अतलगंभीरता है, तो उक्तियों की अपूर्वता भी है। काव्य शब्द को वैदिक ऋषि सत्य के उस परम प्रिय प्रकाश के रूप में स्वीकार करते हैं, जो अपनी अनुपम शक्ति के आकर्षण से व्यक्ति के "अहम्" का सहज ही समर्पण कराले। वासना प्रवाह का अपनी सहज अनुभूतिमयता में अस्तित्व रहते हुए उसकी मुक्त ज्योति में परिणति ही काव्य का महनीय तत्व है। परवर्त्ती आचार्यों ने इसी को साधारणीकरण के रूप में अभिहित किया है। रजोगुणात्मक अहंकार का उत्सर्ग ही प्राणजगत् को कामक्रोध के क्षुद्र व्यवसाय से मुक्त कर देता है। यह सृष्टि रजोगुण का ही सुफल अथवा कुफल है। गीता में कहा गया है—

विप्रं होता रं पुरुवारमद्रुहम् कविं सुम्नैरी महे जात वेदसम्। ऋ० ६।२।१२

कामएष क्रोधएष रजोगुण समुद्भवः।

हमारे वैदिक ऋषि अतीन्द्रिय तत्वद्रष्टा थे। उन्होंने जन्म-जन्मान्तर से अर्जित अहंकार के कलुष-व्यूह का ध्वंस ही काव्य शक्ति की चरम सार्थकता का हेतु माना है। इस मंत्र के द्वारा ऋषि चिन्तन का अनुभव किया जा सकता है

इन आत्म देव के काव्य अर्थात् सामर्थ्य को देखिये। भूत काल में जो निरन्तर जीवित थे, वे आज उसके विराट् आकर्षण में अपने पार्थिव अहं को मिटा दिये। काव्य शब्द का प्रयोग ज्ञानमयी मनोरमा शक्ति के रूप में हुआ है। वेद वाणी की रहस्यमयी प्रभविष्णुता को भी वह द्योतित करता है। काव्य की इस महनीयविशेषता का परिचय वैदिक मंत्रों के द्वारा हमें प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये इस मंत्र के अभिधेय का अनुभव करणीय है :—

पवमाना असृक्षत सोमाः इन्दवः।
अभिविश्वानि का काव्या। ऋ०८।२।१५।

शुद्ध शुक्ल कर्मों के अनुष्ठाता, समादि गुण सम्पन्न योगिजन समस्त काव्यों अर्थात् वेदवाणियों का साक्षात्कार करते हैं। योगियों की वाणी काव्य की महनीय वाणी होती है। कवि सत्य का दर्शन करते हैं, इसलिये वे स्वभावतः ऋषि होते हैं। आचार्य भट्टतोत ने कहा है :—

नानृषिः काव्यकर्त्ता स्यात् ऋषिश्चकिल दर्शनात् ।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः ॥

ऋषि-कवि सत्य की महनीय व्यंजना द्वारा आत्मीयता का मुक्त आकर्षण भर देते हैं। उनकी वाणी पूर्ण प्रज्ञ की वाणी होती है। संस्कृत के मान्य आचार्यों ने इसे स्वीकार भी किया है। आचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में नाट्य काव्य की विशेषता का परिचय देने के लिये लिखा है:—

न तत् ज्ञानं, न तत् शिल्पं, न सा विद्या न सा कला ।
न स योगो न तत् कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥

काव्य की महनीयता के कारण कवि प्रकृति की महनीयता स्वयं सिद्ध है। आचार्य भामह ने काव्यालोक में कवि के दायित्व का परिचय देने के लिये लिखा है:—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गम् ॥

ज्ञानमय जगत् की अनुभव पूर्णता के कारण कवि की वाणी सर्वज्ञ का स्वर होती है। समय का प्रतिनिधित्व करने वालों के अरण्यरोदन अथवा मनोरंजन का प्रलाप एवं उन्माद नहीं। आचार्य रूद्रट ने काव्यालंकार ग्रन्थ में काव्याङ्ग की पूर्णता का गौरव-रूप प्रकट करते हुये कहा है:—

विस्तरस्तु किमन्यत् तत् इह वाच्यं न वाचकं लोके ।
न भवति यत्काव्याङ्गं, सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा ॥

यह संसार विश्वनिर्माता महाकवि का काव्य है। वह अपनी इच्छा के अनुरूप इसका परिवर्त्तन करता है। इसीलिये भारतीय आचार्य ने कहा है:—

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥

वैदिक ऋषि ने काव्य की इस अमृत विशेषता का प्रत्यक्ष अपनी अतीन्द्रिय दृष्टि से सृष्टि के आदि काल में ही कर लिया था। काव्य का सत्प्रभाव लोक मंगल में कितना समर्थ होता है, इसका परिचय इस मंत्रध्वनि के द्वारा अच्छी तरह प्राप्त हो जाता है:—

ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन ।
स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यं गुह्यनाम गोनाम् ।। प्र० १।१।१०

अर्थात् अतीन्द्रिय सत्य का द्रष्टा मेधावी समस्त जीवों के पूर्व ही सर्वत्र व्यापक और विद्यमान परम प्रकाशमय कर्म एवं विचार-शक्ति को बढ़ाने वाला सबका नियन्ता परमयोगी काव्य अथवा ज्ञानमय वेद साहित्य द्वारा मनोहर रहस्यमय ध्वनि परिपुष्ट भावात्मक सौन्दर्य की स्वयं अनुभूति करता है और दूसरों को कराता है। मुक्ति का अह्लाद भरते हुये कवि का काव्य क्रूर कर्म बन्धनों को विछिन्न कर देता है। इसी लिये मुक्ति का आकर्षण भरना काव्य की निसर्ग विशेषता है, जिसका परिचय ऋषि ने इस मंत्र में दिया है :—

प्रियाणि काव्या विश्वाचक्षाणो। अर्षतिहरिस्तुज्जान आयुधा।। प्र० ८।२।१८

मोक्ष की ओर ले जाने वाला मुक्त आत्मा संसार के मनोहर ज्ञान अथवा काव्य का परिदर्शन कर क्रूर कर्म बन्धनों को काटते हुये विचरते हैं। कवि अपने काव्य के द्वारा प्राणिजगत् की क्षुद्रतर स्वार्थ कल्पनाओं में विराट् आकर्षण भर देता है, जिससे 'उदारचरितानांतुवसुधैव कुटुम्बकम्' की ध्वनि-सार्थकता प्राप्त करती है:—

सकविः काव्या पुरुरूपे द्यौरिव पुष्यति ।। ऋ० ८।४१।५।

पूर्णता का विश्वास भी काव्य के द्वारा ही सामान्य जन जीवन को सुलभ होता है। इसीलिये ऋषि ने कहा है:—

सत्यमहं गंभीरः काव्येन सत्यजातेनास्मि जातवेदाः ।।

इस प्रकार मनुष्य की समस्त प्रसुप्त शक्तियों को युगान्तर आह्लाद से अनुप्राणित कर प्रबुद्ध कर देता है और मनुष्य ज्ञानमय परमात्मा का दर्शन करने में समर्थ हो जाते हैं। तपःसंकल्प से तेजः सम्पन्न होकर सब लोकों में विचरते हैं। काव्य के इस गौरवमय स्वरूप का परिचय इस मंत्र से अच्छी तरह प्राप्त हो जाता है:—

स भक्षमाण अमृतस्य चारुण उभे द्यावा काव्येनाविशश्रधे ।
तेजिष्ठा अपो मंहना परिव्यत यदी देवस्य श्रवसा सदो विदुः ।। प्र० ६।२।१७

वैदिक-शिक्षा-नीति

शिक्षा संचित-अनुभव ज्योति से जीवन को दिव्यता, भास्वरता तथा मनोहरता प्रदान करती है। विश्व की भ्रान्ति-मूलक-विषमताओं तथा विवशताओं पर विजयोपलब्धि के विश्वास को पूर्णता देती है। इसीलिए बाह्य तथा आभ्यन्तर सत्यों के पूर्ण-तत्व-बोध की साधना-समाधि को लोक-मंगल-मूल ब्रह्मचर्य आश्रम के रूप में ऋषि ने अभिनन्दित किया है:—

दीर्घ सत्रं वै एष उपैति, यो ब्रह्मचर्यम् उपैति। शत० ११।३।३।१

दीर्घसत्र (बहुत दिनों से होने वाले सोमायज्ञ) को निश्चित रूप से वह मनुष्य करता है, जो ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करता है।

इस आश्रम में आचार्य अथवा शिक्षक के निर्देशानुरूप आचरण वाणी-तत्वान्वेषक शिक्षार्थी का मुख्य-धर्म होता है। इसलिए अनुभव के आलोक के रूप में शिक्षक शिक्षार्थी में प्रवेश कर अभिनव-परिणति प्राप्त करता है।

अथ यद् आचार्यवचसं करोति, यद् आचार्याय कर्म करोति.. स एनम् आविशति। शत० ११। ३। ३। ६।

भिक्षाटन द्वारा विनयशीलता की दीक्षा मिलती है और यज्ञार्थ-समिधानयन द्वारा पूर्ण तेजस्विता आती है। अडिग संकल्प द्वारा इस आश्रम की प्रतिष्ठा रखने वाले स्नातक का परिचय इस प्रकार मिलता है:—

तम् एवम् विद्वांसम्, एवं चरन्तं सर्वे वेदाः आविशन्ति यथा ह वै अग्निः समिद्धो रोचते, एवं ह वै स स्नात्वा रोचते, यः एवं विद्वान् ब्रह्मचर्यं चरति। शत० ११।३।३।७।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य को जानने वाले तथा इस प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने वाले उस व्यक्ति में सब विद्यायें प्रवेश करती हैं। जिस प्रकार निश्चय रूप से प्रज्वलित हुई अग्नि चमकती है, इसी प्रकार वह निश्चित रूप से स्नातक

होकर चमकता है। ब्रह्मचर्य-काल जीवन के अमृत साधना-संकल्प का लोक-पावन पुण्य-क्षण होता है :—

ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत्, तस्मै ब्रह्मचारिणम् एव न प्रायच्छत्।
(शत० ११।३।३।१)

ब्रह्मारूपी प्रजापति ने निश्चित रूप से मृत्यु को सब प्रजायें दीं, उसे केवल ब्रह्मचारी को न दिया। प्रकृति की ज्ञान-मय-तपः शक्ति की उपासना निरलस रूप से व्यवहार्य्य मानी गई है :—

समिधः आहृत्य च अहरहः सायं प्रातः अग्निं परिचरेत् गो० पू० ३। ६।

शिक्षा-ग्रहण काल में आचार की मर्यादा परमाभीष्ट है।

न उपरिशायी स्यात्, न गायनः, न नर्त्तनः न सरणः न निष्ठीवेत्।
(गो० पू० २।७)

गुरु से ऊँचे आसन पर सोने तथा बैठने वाले न हों। वासनामय विनोद की गान शक्ति, सामान्य विनोद की नाट्यशीलता तथा व्यर्थ परिभ्रमण निष्ठा को छोड़ देना चाहिए। व्यर्थ थूँकना ठीक नहीं। विद्या की आराधना जीवन के परम-सौभाग्य की उपलब्धि है।

विद्यया तद् आरोहन्ति, यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणाः यान्ति न अविद्वांस तपस्विनः। (शत० १०।५।४।१६)

विद्या से हम उस अधिकार को प्राप्त करते हैं, जहाँ जीवन की सब इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं। न वहाँ अप्रतिम वैभवशाली पहुँचते हैं और न अज्ञ तपस्वी ही पहुँचते हैं। लोकाराध्य-शिक्षक आचार्य को विद्या की उपलब्धि किस प्रकार होती है, इसका प्रत्यक्ष आचार्य यास्क ने अत्यन्त प्रभाविष्णु-रूप में इस प्रकार दिया है:—

विद्या ह वै ब्राह्मणम् आजगाम, गोपाय मा शेवधिः ते अहम् अस्मि।
असूयकाय अनृजवे अयताय न मा ब्रूयाः वीर्यवती तथा स्याम्। (नि०२।४।)
यम् एव विद्याः शुचिम् अप्रमत्तं, मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यः ते न द्रुह्येत कतमत् च नाह, तस्मै मा ब्रूयाः निधिपाय ब्रह्मन्। (नि०)

विद्या वेदादि समस्त विद्याओं के पारंगत विद्वान् के समीप आई और बोलीं; कि मेरी रक्षा कीजिए, मैं आपकी निधि हूँ। झूठी निन्दा करने वाले, कुटिल तथा अजितेन्द्रिय व्यक्ति को मुझे न दीजिए। ऐसा करने से मैं आपके लिए शक्तिशाली होऊँगी। जिसको आप निस्संदेह पवित्र, अप्रमादी, मेधावी तथा ब्रह्मचर्य से युक्त समझें, जो आप से कभी कुछ द्रोह न करे। हे ब्रह्मन्! उस विद्यानिधि के रक्षक के लिए मुझे दें। शिक्षार्थी और आचार्य के सम्बन्ध में आचार्य यास्क की दृष्टि पूर्ण स्वस्थ दिखाई देती है।

य: आतृणत्ति अवितथेन कर्णौ, अदु:खं कुर्वन् अमृत संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च, तस्मै न द्रुह्येत कतमत् च नाह। (निरु०)

जो दु:ख को सर्वथा दूर करते तथा विद्या रूपी अमृत देते हुए सत्य के स्वर से कानों को खोलते हैं। उन आचार्य को पिता तथा माता के रूप में परम पूज्य समझना चाहिए। उनसे कोई कुछ भी द्रोह न करे! शिक्षा साधना की पूर्णता की उपलब्धि स्वाध्याय-सापेक्ष होती है। इसलिए स्वाध्याय ही शिक्षा की आराधना का प्राण है। इसका परिचय देते हुए ऋषि ने कहा है—

अपहत पाप्मा हि स्वाध्याय:। देव पवित्रं वै एतत्। (तै० आ० २।१५।)

स्वाध्याय निश्चित रूप से सब पापों को नष्ट कर देता है, जीवन को देवताओं के समान पवित्र बना देता है। जीवन के श्रम का मूल्य स्वाध्याय से अपरिसीम बहुमूल्यता प्राप्त कर लेता है। स्वाध्याय-श्रम की सार्थकता का परिचय देते हुए ऋषि ने कहा है:—

ये वै के च श्रमा: इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण,
स्वाध्यायो ह एव तेषां परमता काष्ठा।

निर्भ्रान्तरूप से जो कोई भी श्रम इस द्युलोक और पृथ्वी लोक के भीतर है, स्वाध्याय ही उसकी सर्वोच्च सीमा है। जिस किसी दशा में स्वाध्याय-निरत प्राणी तपस्या के पूज्यालोक में हीं रहता है:—

यदि ह वै अपि अभ्यक्त: अलंकृत: सुहित: सुखे शयने शयान: स्वाध्यायम् अधीते, आ ह एव स नखाग्रेभ्य: तप: तप्यते।

यदि तैल लगाये हुए, अलङ्कार किए हुए, भोजन से अच्छी तरह तृप्त होते हुए, कोमल बिछौने पर लेटे हुए भी कोई स्वाध्याय करता है, तो भी निश्चित रूप से सिर से लेकर नख तक तपस्या करता है। स्वाध्याय शील व्यक्ति अथवा समाज ही सृष्टि विजय के अक्षय सुयश का महनीय अधिकारी होता है:—

यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति, त्रिः तावन्तं जयति, भूयासं च अक्षय्यम्, यः स्वाध्यायम् अधीते।
यः एवं विद्वान् महारात्रे उषसि उदिते व्रजन् तिष्ठन् आसीनः शयानः अरण्ये ग्रामे वा यावत् तरसं स्वाध्यायम् अधीते, सर्वान् लोकान् जयति सर्वान् लोकान् अनृणो अनुभवति। (तै० आ० २।१५।)

चाहे जिस प्रकार भी हो, विश्व-विजयिनी-शक्ति की उपलब्धि का स्वाध्याय ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस लोक तथा परलोक की सिद्धियों का यही चरम-सोपान तथा ध्येय है: इसलिए स्वाध्याय—यज्ञ से प्रमाद अथवा उपेक्षा उचित नहीं। स्वाध्याय अर्थ-बोध-युक्त होना चाहिए। अर्थ-ज्ञान विहीन स्वाध्याय का कोई मूल्य नहीं होता है। आचार्य यास्क ने कहा है—निश्चय रूप से जो वेदों को पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता है, वह भार ढोने वाला गदहा है। जो अर्थ को जानता है, वह ज्ञान के द्वारा कलुष को दूर कर सब प्रकार के मङ्गल को प्राप्त करता है। स्वाध्याय जैसे मैत्री के रहस्य को जानने वाले मित्र को जो त्याग देता है, उसकी वाणी ऐश्वर्य-शून्य बन जाती है। शुभ-कर्म के मार्ग को वह नहीं जानता है। जो कुछ सुनता है, निष्फल सुनता है :—

यः तित्याज सचिविदं सखायम्, न तस्य वाचि अपि भागो अस्ति।
यद् ईं शृणोति अलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।

नारदजी ने सनत्कुमारजी से अपनी अध्ययनशीलता का परिचय इस प्रकार दिया है:

स ह उवाच ऋग्वेद भगवो! अध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदम् आथर्वणं चतुर्थम्, इतिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्, पित्र्यं, राशिं दैवं, निधिं,

बाकोवाक्यम् , एकायनं, देवविद्यां ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां क्षत्रविद्यां, नक्षत्र विद्यां सर्पदेव जनविद्याम् ।

नारद जी ने कहा, कि हे भगवन् ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, वंशविद्या, गणित विद्या, वायुआदिविद्या, भूगर्भविद्या, तर्कविद्या, नीति विद्या, नृत्यगीत वाद्य विद्या, पदार्थविद्या, प्राणिविद्या, शस्त्रास्त्र विद्या, ज्योतिर्विद्या सर्पविद्या, और शिल्पविद्या को मैंने पढ़ा है। वेद की शिक्षा लेकर घर जाते हुए शिष्य को आचार्य इस प्रकार शिक्षा देते हैं:—

सत्यंवद, धर्मं चर, स्वाध्यायात् मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनम् आहृत्य प्रजतंतु मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यात् न प्रदितव्यं, धर्मात् न प्रमदितव्यम् , कुशलात् न प्रमदितव्यम् , भूत्यै न प्रमदितव्यम्, स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् , देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथिदेवो भव यानि अनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । यानि अस्माकं सुचरितानि, तानित्वया उपास्यानिनो इतराणि ।

सत्य बोलें, धर्म का आचरण करें । स्वाध्याय की उपेक्षा न करें। आचार्य के लिए प्रियधन लाकर दें। वैवाहिक-व्रत वरण कर सन्तति-सूत्र को आगे बढ़ाएँ । सत्य, धर्म, स्वास्थ्य, को उपेक्षित न करें। स्वाध्याय तथा प्रवचन में और देवताओं एवम् पितरों के कार्य में आलस्य न करें। माता, पिता, आचार्य तथा अतिथियों के प्रति देवबुद्धि सर्वदा रक्खें। जो निर्दोष कर्म हैं, वे करणीय हैं। जो हमारे सुन्दर आचरण हैं, उनकी उपासना करें। दूसरे आचरणों की नहीं।

ब्रह्मचर्य-आश्रम् की शिक्षा-साधना को पूर्ण करने वाले स्नातकों का जो परिचय ऋषि ने दिया है, उसके द्वारा वैदिक-शिक्षा-साधना की चरमदिव्यता की प्रतीति मिलती है। ब्रह्मचारी के जीवन-तत्व दर्शन की पूर्णता का इस मंत्र में कितना प्रभविष्णु प्रत्यक्ष मिल रहा है:—

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् विभर्ति, तास्मिन् देवाः अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन् आद् व्यानम् वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ।

ब्रह्मचारी वेदादि समस्त विद्या को धारण करता है, उसमें सब देवता रहते हैं। वह प्राण, अपान व्यान के स्वास्थ्य को वाणी, मन एवम् हृदय की, शुद्धता को, विद्या और बुद्धि के पूर्णोत्कर्ष को प्रकट करता हुआ विचरता है। वैदिक-वाङ्मय की पावमानी ऋचाओं के स्वाध्याय का सुफल साधारण नहीं, अपितु असाधारण होता है:

पावमानीः यो अध्येति ऋषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे, क्षीरं सर्पिः मधूदकम्। ऋ० ६।६७।३२

जिन में ऋषियों के द्वारा रस संचित है, ऐसी परमपवित्र ऋचाओं को जो पढ़ता है, उसके लिए सरस्वती दूध घी मधु और शीतल जल सुलभ करती हैं। लोकवपावनी भाषा का अनुशीलत कितना महनीय होता है, इसका परिचय देने में ऋषि का हृदय तृप्त नहीं होता है:—

पावमानीः स्वस्त्ययनीः ताभिः गच्छति नान्दनम्।
पुण्यान् च भक्षान् भक्षयति, अमृतत्वं च गच्छति। (सा० उ०१०।७।६)

पावमानी ऋचायें कल्याण को देने वाली हैं, उनके स्वाध्याय से साधनाशील प्राणी आनन्द के स्थान अर्थात् सब ओर से प्रफुल्ल गृहस्थाश्रम को प्राप्त करता है। जीवन भर उत्तम भोगों को भोगता है तथा अन्त में अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। शिक्षा, स्वाध्याय की यह पूर्ण ध्येयशीलता ही शिक्षा-साधना की समाप्ति के बाद स्नातक को सब ओर से समादरणीय बना देती है। इसीलिए ऋषि को स्नातक का हृदय से अभिनन्दन बार-बार करने में तृप्ति नहीं होती है :—

स वेद पुत्रः पितरं मातरं स सूनुः भुवत् स भुवत् पुनर्मघः।
स उ द्याम् और्णोद् अन्तरिक्षमुत स्वः स इदं विश्वम् अभवत् स आभवत्।
(अथर्व० ६।१।२)

ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में आने वाला स्नातक पुत्ररूप होते हुए पिता को परम पूज्य समझता है, और अपनी माता को पुत्र रूप में परिणति देता है। वह पूर्ण वैभवशाली होता है। निश्चित् रूप से वह द्यौ अन्तरिक्ष

तथा समस्त विश्व को अपने सुयश से आच्छादित करता है। वह यह सब विश्व होता है और सब ओर से सार्वभौम होता है। गृहस्थाश्रम में आने वाला स्नातक कोई साधारण प्राणी नहीं, किन्तु अपनी अमोघ-शक्ति से समस्त संसार को झुकाने वाला होता है :—

स सद्यः एति पूर्वस्माद् उत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुर् आचरिक्रत्।
(अथर्व० ११।७।६)

वह पहले समुद्र से अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम से ऊपर के समुद्र अथत् गृहस्थाश्रम को प्राप्त करना है और सब लोगों को संगठित कर अपनी ओर झुका लेता है। इस प्रकार वैदिक-शिक्षा-नीति सर्वार्थसाधिका है। शक्तिशील और सौन्दर्य के पूर्णोत्कर्ष का प्रत्यक्ष कराती है। उपनिषदों में यह अध्यात्मी-ज्ञान जनयित्री के रूप में दिखाई देती है। इसके तत्व-बोध का निदिध्यासन करने में ही सर्वोच्च ज्ञान-विज्ञान को सर्व-सुलभता मिल सकती है और भारत अपने जगद् गुरुत्व का गौरव पुनः प्राप्त कर सकता है।

वेदों में सामाजिक शील

व्यक्ति आत्मीयता की अभिन्न-एकता की प्रतीति द्वारा सामाजिक आदर्श की प्रतिष्ठा में अदम्य-कार्य कौशल तथा महनीय-त्याग का व्रत वरण करते हुए दिखाई देता है। इसलिए सामाजिक शील के प्रतिष्ठापक मनीषियों के लिए यह आवश्यक होता है, कि वे पारस्परिक एकता अर्थात् सह अस्तित्व बोध के द्वारा सामाजिक-संगठन को प्रधानता दें। वैदिक-ऋषि ने एतदर्थ प्रबुद्ध करते हुए कहा है, हे मनुष्यों, आपस में मिलकर चलो, प्रेमपूर्वक बोलो। आपलोगों के मन एक ज्ञान वाले हों। जिस प्रकार एक अनुभव वाले पूर्ववर्त्ती विद्वानों ने अपने-अपने भाग को भोग्य माना है, उसी प्रकार आप भी मानें। आप लोगों का संकल्प एक हो, हृदय एक हो। आप सभी का मन एक हो, जिससे सबका अच्छा संगठन हो। स्वार्थ-भेद के कारण बढ़ने वाली विषमता को दूर हटाने के लिए साम्यानुभूति से बार-बार अनुप्राणित किया गया है:—

समानो यन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तम् एषाम्।
(ऋ० १।१६१।२

इन मनुष्यों के विचार एक हों, समिति एक हो, मन एक हो और चिन्तन एक हो। सामाजिक-जीवन की एकता की आधार-शिला पारिवारिक जीवन की आदर्शमयता ही होती है। इसीलिए महर्षि ने गृहस्थों को व्यावहारिक शील की पूर्णता की दीक्षा देते हुए कहा है—हे गृहस्थ-गण ! मैं आप लोगों को हृदय (उद्देश्य) की एकता, मन (विचार) की एकता और आपस में विरोध-शून्यता के लिए उपदेश देता हूँ। आप लोग एक दूसरे के साथ इस प्रकार सहृदयतापूर्ण व्यवहार करें, जिस प्रकार नये उत्पन्न बछड़े को गौ चाहती है।

पारिवारिक जीवन के शील-सौन्दर्य की जिस दिव्य शक्ति का प्रत्यक्ष करने के लिए महर्षि ने अनुप्राणित किया है, वह सर्वथा अनुकरणीय तथा महनीय है—पुत्र पिता की रुचि के अनुरूप कर्म करने वाले तथा माता के साथ एक मन वाले हों। पत्नी पति के लिए मधुमयी तथा तृप्तिदायिनी वाणी बोलें। भाई से भाई तथा बहन से बहन द्वेष न करें। आप लोग एक ज्ञान तथा एक कर्म के व्रती हो आपस में कल्याणी वाणी बोलें। शुभ-कर्मों के लिए अनेक रूपों में महर्षि ने अग्रसर होने की प्रेरणा दी है। यही शुभ-संकल्प की ज्योति मनुष्य को क्षय से बचाकर अक्षय आनन्द सुलभ करती है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों में मानव-मंगल का कितना स्वस्थ परिचय प्राप्त हो रहा है—हे मनुष्य! तुम्हारी उन्नति हो, अवनति न हो। मैं बल को तुम्हारे जीवन के लिए साधन बनाता हूँ। तुम निस्संदेह इस अमृतमय, सुख के साधन शरीर रूपी रथपर बैठो और अपने जीर्ण (वृद्ध, पूर्ण) हुए ज्ञान को मनुष्यों में प्रचारित करो। हे मानव, तुम अपने जीवित पुरुषों की अनुभव रूपिणी ज्योति के समक्ष प्राप्त हो। मैं तुम्हें सौ वर्षों तक जीवित रहने के लिए संसार में लाया हूँ। तुम मृत्यु के बन्धनों और अप्रशस्तता को दूर छोड़ते हुए जीवन धारण करो। मैं तुम्हें बहुत लम्बी और बहुत अच्छी आयु देता हूँ।

सांसारिक-जीवन-प्रवाह की संघर्षमयी कठोरता को पार करने के लिए सामाजिक-एकता और प्रबुद्धता की अनिवार्य आवश्यकता होती है। इसका परिचय देते हुए ऋषि ने कहा है—यह पत्थरों वाली (कठोर संघर्षमयी) संसृतिरूपी नदी बहती है। हे सुहृद्गण! आप एक दूसरे का सहारा लें, उठें और अच्छी तरह इसे पार करें। सामाजिक जीवन की यौद्धिक वीरता के अदम्य-प्रभाव से ही कोई राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के साथ अपनी मैत्री को प्राण-मयी बना सकता है। इसलिए महर्षि ने इसका दृश्यात्मक-दर्शन इस प्रकार कराया है—युद्ध में मुझे निरुद्ध करने वाला कोई नहीं है। यदि मैं चाहूँ, तो पर्वत भी मेरा निरोध नहीं कर सकते। जिस समय मैं शब्द करता हूँ, उस समय जिसका कान वाधिर है, वह भी डर जाय। और तो और किरणमय सूर्य भी प्रतिदिन काँपते हैं।

इस प्रकार अजेय वीरता का शंखनाद अनेक-मंत्रों में सुनाई देता है। जीवन के सर्वव्यापी मङ्गलमय अभ्युदय-संकल्प की पूर्णता ऋषि-चिन्तन का चरमोद्देश्य है। जिसकी श्रुति इस प्रकार सुनाई देती है। हे चरममहिमामय! हमारे राष्ट्र में वेदादि समस्त विद्याओं से देदीप्यमान ब्राह्मण उत्पन्न हों, प्रबल पराक्रमी अस्त्र-शस्त्र-संचालन-दक्ष, शत्रुओं के दमन में पूर्ण-समर्थ, सहस्रों से एकाकी युद्ध करने वाले क्षत्रिय उत्पन्न हों। गौ दूध देने वाली, बैल बोझा ढोने वाले तथा स्त्रियाँ अत्यन्त बुद्धिशालिनी उत्पन्न हों। प्रत्येक मनुष्य विजय प्राप्त करने का स्वभाव रखने वाले, रथों (वाहनों में बैठने वाले तथा सभा-कुशल उत्पन्न हों। इस यज्ञकर्त्ता के घर में विद्या-यौवन सम्पन्न, शत्रुओं को दूर भगाने वाले पुत्र उत्पन्न हों। हमारे राष्ट्र में बादल लोगों की इच्छा के अनुरूप जल की वृष्टि करें। गेहूँ, जौ, धान आदि समस्त ओषधियाँ फल से युक्त होकर पकें। प्रत्येक मनुष्य के अलब्ध-लाभ और लब्ध-संरक्षण उपभोग के लिए पर्याप्त हों।

देश-प्रेम के अडित-विश्वास की ओजस्विनी श्रुति इस प्रकार सुनाई देती है—हे मातः भूमे! तुम्हारी गोद हम लोगों के लिए अरोगता तथा अक्षयता देने वाली हो। हम लोग तुम्हारे द्वारा उत्पन्न किए पुत्र हैं। हम लोगों की आयु लम्बी हो। हम लोग पूर्णप्रबुद्ध हो तुम्हारे लिए अपनी बलि देने वाले बनें। पृथ्वी को धारण करने वाले समस्त नैतिक सत्यों की पूर्णता का प्रत्यय इस मंत्र-श्रुति में ऋषि ने सुनाया है—सत्य बृहद् होना चाहिए। सर्व-भूत-हित की परमोदार निष्ठा न्याय-निर्वाह का आधार होनी चाहिए। वैधानिक विश्वास कठोर होना चाहिए। इसके साथ दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ के पुण्य-प्रभाव पृथ्वी को धारण करते हैं। इस मंत्र-ध्वनि के प्रत्येक शब्द अपनी महनीयता में सर्वथा सप्राण हैं। पार्थिव-शक्तियों में गौ के प्रति अनेक मंत्रों में ऋषि ने अपनी अपार निष्ठा व्यक्त की है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाम् अमृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय, मागाम् अनागाम् अदितिं वधिष्ट

ऋ० ८।९०।१५।

यह गौ क्षत्रियों की माता, वैश्यों की पुत्री, ब्राह्मणों की बहन और अमृत का उद्‌भव-केन्द्र है। मैं निर्भान्त रूप से आप बुद्धिमान मनुष्य से कहता हूँ। इस निष्पापा माता गौ की हत्या न कीजिए। अतिथियों के प्रति पूर्ण संमान की भावना मिलती है—अतिथि के भोजन के पश्चात् भोजन करना चाहिए।

मानव-व्यवहार की सहृदयता को महर्षि ने एकता की पूर्णता में देखा है। इसीलिए कहा है—आप लोग बड़ों की आज्ञा मानने वाले, उदार हृदय वाले, आरब्ध-कर्म को पूर्णतया सिद्ध करने वाले तथा मिलकर कार्य-भार सँभालने वाले होकर चलते हुए परस्पर पृथक् न हों। आपस में प्रियबाक्य बोलते हुए एक दूसरे के समाने आएँ। मैं आप लोगों को एक मनवाला करता हूँ। साधनादर्श की महनीयता की दृष्टि से जीवन के व्यावहारिक-अधिकार-भेद को स्वीकार करते हुए भी साम्य-नीति की पूर्ण पुष्टि ही हमारे वैदिक-ऋषियों को अभीष्ट है। आर्थिक तथा साम्प्रदायिक विषमता के विष को दूर करने के लिए एकात्मता के अमृत-भाव का ऋषि ने इस प्रकार समर्थन किया है—

समानी प्रपा सह वो अन्न भागः समाने योके सह वो युनज्मि।

सम्यञ्चो अग्निं सपर्य्यत, अराः नाभिम् इवाभितः। अथर्व० ३।३०।६।

आप लोगों के पानी पीने का स्थान एक हो, भोजन एक साथ हो। मैं आप लोगों को एक जुए में एक साथ बाँधता हूँ। आप रथ की नाभि के चारों ओर के अरों की भाँति मिले हुए जगद्‌गुरु परमात्मा की पूजा करें। समस्त जन-जीवन को इसी एकता की पूर्णता के आदर्श रूप में ऋषि ने देखा है और इसी की उपलब्धि के संकल्प को राष्ट्र-मंगल के विधाता के रूप में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है – मैं आप लोगों को एक साथ चलने वाला, एक मन वाला तथा सच्चे प्रेम के साथ एक समय भोजन करने वाला बनाता हूँ। आप लोग विद्वानों की भाँति अमृतमय-जीवन की रक्षा करते हुए वर्तमान रहें। सायं प्रातः आप लोगों का मनप्रसन्न हो।

सामान्य-नारी-शक्ति के प्रति जितनी ऊँची भावना ऋषि ने प्रकट की है, वह नारीत्व की महनीयता की शाश्वत् स्मृति है। पति के गृह में प्रवेश करने

वाली वधू के प्रति ऋषि-हृदय का भावोद्गार इस प्रकार श्रुतिगोचर होता है: —

सम्राज्ञी श्वसुरे भव, साम्रज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु। ऋ० १०।८५।४६

हे वधू, आप ससुर के समीप सम्राज्ञी रहें, सासु के समीप सम्राज्ञी रहें। ननद के समीप साम्राज्ञी हो, तथा देवर के समीप सम्राज्ञी रहें। अपने विश्वास की पुष्टि का स्तर इस मंत्र ध्वनि में ऋषि ने झंकृत किया है—जिस प्रकार अन्न की वर्षा करने वाली सिन्धु नदी सब नदियों की सम्राज्ञी है, उसी प्रकार हे वधू! आप भी पति के घर में जाकर सम्राज्ञी रहें। उत्सव समारोहों में नारी के लिए संमान पूर्ण स्थान के लिए उल्लेख मिलता है। वे स्त्रियाँ जो विधवा नहीं हैं, कुलीन पति वाली हैं, अंजन युक्त घी से अलंकार करें। प्रसन्न मुख, रोग-रहित, सुन्दर-रत्न-अलंकारों से सजित, वीर-सन्तति-प्रसू बधुयें उत्सव समारोहों में सबसे आगे सुरक्षित स्थान पर बैठें। नारी की कल्याणी-मूर्ति का दर्शन कराते हुए ऋषि ने कहा है। वह वधू कल्याणी होती है, जो सुन्दरी है और माता-पिता की अनुमति में रहती हुई स्वयं अपने मित्र को वरण करती है। कुछ वधुयें ऐसी भी होती हैं, जो वधू की इच्छा रखने वाले पुरुष के सुयश तथा तथा श्रेष्ठ कर्मों से अत्यन्त प्रीति करने वाली होती हैं। ब्रह्मचर्य व्रत से आए हुए स्नातक की अपूर्व-शक्ति से भी महर्षि ने परिचित कराया है—ब्रह्मचर्य-आश्रम से आने वाला युवक निश्चित् रूप से से द्यौ, अन्तरिक्ष और समस्त विश्व को अपने सुयश से अच्छादित कर लेता है। वह सब बिश्व होता है और सार्वभौम होता है। इसीलिए गृहस्थाश्रमाभिलाषी युवक की ऋषि ने इस प्रकार हृदय से संस्तुति की है :—

युवाः सुवासाः परिवीतः आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवयः उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः। ऋ० ३।८।४।

अच्छे वस्त्रो वाला, सब प्रकार से विशेषतापन्न जो युवक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, ब्रह्मचर्याश्रम की संस्कार ज्योति से वह निश्चय नव जीवनमय सर्वश्रेष्ठ होता है। जो स्वाध्यायील और हृदय से विद्वानों को चाहने वाले हैं।

वे बुद्धिमान पण्डित उस युवक को प्रतिष्ठित बनाते हैं। दाम्पत्य-जीवन की पारिवारिक-सुखाशयता का हृदय से अभिनंदन किया है—'हे दम्पती, आप दोनों यहाँ एकत्र ही रहें पृथक् न हों। अपने घर में पुत्र-पौत्रों के साथ खेलते हुए, आनन्द का अनुभव करते हुए पूरी आयु को भोगें।' परिवार के गौरव-पूर्ण-संवर्द्धन की निष्ठा भी दिखाई देती है। मेरे घर में शत्रुओं को मारने वाले पुत्र तथा विविध गुणों से चमकने वाली कन्या हों। पुनर्विवाह की भी श्रुति मिलती है।

पुनर्विवाह की इच्छा रखने वाली नारी के साथ विवाह करने वाला दूसरा पति लोक-व्यहार में पहले के समान ही होता है। नारी भी पुनर्वार पति की कामना रखने वाली मिलती है :—जो स्त्री पहले एक पति को प्राप्त कर पुनः दूसरे पति को प्राप्त करती है। पतिव्रता नारी श्रेष्ठ होती है :—पतिव्रता स्त्री जैसे निर्दोष होती है। श्रम के प्रति पूर्ण निष्टा दिखाई देती है। यह असत्य नहीं, कि देवता परिश्रमी की रक्षा करते हैं। देवता अनेक हैं, जिन में से कुछ का संकेत इस प्रकार मिल जाता है। ब्राह्मण को प्रत्यक्ष देवता कहा गया है, इसी प्रकार विद्वानों और पितरों के लिए श्रुति मिलती है :—

एतेवै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः (तै० सं० १।७।३)
विद्वांसो हि देवाः (शत० ३।७।३।१०)
पितरो देवाः (अथर्व० ६।१२३।३)

सब में व्यापक एक सत्य के प्रति पूर्ण विश्वास मिलता है: —

एकं वै इदं विबभूव सर्वम्। (ऋ० ८।५८।२)
एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति। (ऋ० १।१६४।४६)
एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। (ऋ० १०।११४।५)

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का प्रभाव पूर्ण दर्शन मिलता है।

वैदिक राज-शक्ति

बाह्य एवं अन्तस् की चिरन्तन-चिर-नवीन पूर्णता की प्रतीति ही भारतीय जीवन-साधना का ध्येय रही है। इसीलिये इसकी राजनैतिक दृष्टि जितनी स्वस्थ एवम् प्रभविष्णु है, दार्शनिक-चिन्तन-दृष्टि उतनी ही सर्वव्यापिनी अतीन्द्रिय-सूक्ष्मता के साथ लोक-पावनी एवम् दिव्य है। वैदिक वाङ्मय की अपौरुषेय अपूर्वता का यही रहस्य है। इसीलिये आनुमानिक अथवा अन्धानुसरण की कल्पना से हमारे इतिहास का तथ्य किसी प्रकार भी अवगत नहीं हो सकता है।

वैदिक-ऋषि अभय-संकल्प तथा लोकमंगल की पूर्णता में मानव-जीवन-साधना की सार्थकता मानते हैं। इसलिये उनका अध्यात्मभाव लोकमंगल की पूर्णता का ही साधक है। परवर्त्ती काल की चिन्तन-धारा की भाँति लोक-मंगल का उपेक्षक नहीं है। उनका अभय-संकल्प सृष्टिव्यापी है। यहाँ द्यौ-औरपृथ्वी हमारे लिये अभय हों, चन्द्रमा और सूर्य हमको अभय करें, विस्तृत अन्तरिक्ष हमको भय रहित हो, सात मूल-गोत्र ऋषियों और अन्य सभी ऋषियों की भक्ति रूपी हवि से हमारे लिये अभय हो।

तप और दीक्षा को लोक-मंगल का मूल मानते हुये इस ओर विशेष ध्यान देने के लिये ऋषियों ने सावधान किया है—पूर्वकाल में देश का कल्याण चाहते हुये, सुख तथा सुख के साधनों को जानते हुये ऋषियों ने

तप और दीक्षा को प्राप्त किया था। उससे राष्ट्र को शक्ति तथा तेज प्राप्त हुआ। अतः देश में मंगलाभिलाषी विद्वज्जन इस ओर विशेष ध्यान दें।

विभिन्न राष्ट्रों की तेजस्विनी शक्तियों को सम्राट् के रूप में अन्ताराष्ट्रीय समझौते के यज्ञ में उपस्थित देखकर सेवा-भाव से ऋषि का हृदय अभिनन्दन करते हुये प्राप्त होता है। जो सम्राट् ज्ञान तथा कर्म से बढ़े हुये यज्ञ में आते हैं, किसी से न दबते हुये, ज्ञान रूप ज्योति से देदीप्यमान लोक में निवास करते हैं, उन गुण तथा कर्मों से महान् भारतभूमि के पुत्रों एवं भारतभूमि को अपने सुख के लिये नमस्कार तथा सुन्दर स्तुतियों से हम यथायोग्य सेवित करते हैं। अपने राष्ट्र के ऐश्वर्य की पूर्णता की परितृप्ति के लिये हृदयस्थ-भावना का ऋषि ने इस प्रकार अभिव्यंजन किया है। हे सोम! आप अनेक योद्धाओं से समर्थ, सब वीरपुत्रों वाले, परमशक्तिशाली, अदम्य विजेता, तीक्ष्ण-अस्त्र-शस्त्र सम्पन्न, अस्त्र-शस्त्र-संचालन-कौशल-दक्ष, युद्धों में असह्य आक्रमण करने वाले, अनेक योद्धायों में शत्रुओं को पराजित करने वाले अपने धनों का उचित भोक्ता होते हुए पवित्र करें। संरक्षण-शक्ति की इस पूर्णता के प्रति नितान्त दिव्य-निष्ठा का प्रत्यक्ष अनेक मंत्रों में अत्यन्त प्रभविष्णु रूप में मिलता है। समष्टि-राष्ट्र-शक्ति को सब राष्ट्रों के सौन्दर्य के रूप में अभिनन्दित किया है। राष्ट्र की इस प्रभुत्व-शक्ति का अनुभव अनेक प्रतीकों द्वारा ब्रह्म अथवा ईश्वर से अभिन्न रूप में मिलता है। इन्द्र अपनी शक्तियों से अनेक रूप वाला जान पड़ता है। प्रत्येक रूप में इन्द्र प्रकट हुआ है। इन्हीं अपने अनन्त प्रभावमय इन्द्र को राष्ट्र नायक के रूप में ऋषि ने सामाजिक गौरव-दृष्टि से मान्यता दी है, आप ही इन सनातनी प्रजाओं के पालक और राजा हैं। हे इन्द्र! आप ही सब लोगों के राजा हैं। संसार तथा सब प्रजाओं के राजा हैं। राजा इन्द्र हैं। अपनी इस आराध्य राष्ट्रशक्ति के सद्गुणों का भी स्मरण किया है। सामाजिक-अमंगल-वर्द्धिनी शक्तियों को दबाये तथा नियंत्रित किये बिना राष्ट्रोत्कर्ष का आरंभ नहीं हो सकता है। क्योंकि इनकी स्पर्द्धा ध्वंसक होती है। इसलिए

राष्ट्र-नायक की शासन-नीति की पूर्णता के प्रति ऋषि ने अपना विश्वास इस प्रकार व्यक्तकिया है। इन्द्र समाज-मंगल-विरोधिनी शक्तियों का दमन करने वाले तथा उन्हें भयभीत करने वाले हैं। यह दण्डनीति की पूर्णता की परिचायक-ध्वनि है। लोक मंगल की प्रतिष्ठा के लिये तपः संकल्प के साथ चिन्तन और अनुसन्धान करने वाले मुनि-जनों को समाहृत कर राष्ट्र-नायक वैधानिक-शील-दीक्षा के दुस्तर-पथ को सहज ही प्रशस्त बना लेते हैं। इसीलिये महर्षि ने इन्द्र को मुनियों का मित्र कहा है

इस सामनीति के साथ दाम नीति भी जब पूर्ण लोक-मंगल की अभिज्ञता के साथ भविष्योत्कर्ष की दृष्टि से चलती है, तभी क्रिया-कौशल के अद्भुत-कार्य सहज ही सम्पन्न होते हैं। ऐसी दाम-नीति सर्वमंगला होती है। इन्द्र की दामनीति ऐसी ही है। इन्द्र की लोक-मंगल-निष्ठता की पूर्णता से तृप्त हो कर महर्षि में उनकी कर-नीति के प्रतिबन्ध की पूर्ति के लिये सामान्यजनों को प्रबुद्ध करने कीभावना भी मिलती है। उठिये, प्रत्येक ऋतु में दिये जाने वाले भाग को अपने धन में देखिये। यदि तैयार है तो दीजिए, यदि नहीं प्रस्तुत है, तो देने के लिये उत्साह-संकल्प में सक्रिय हो जाइये।'

अपने राष्ट्र के नायक मनु जी के राज्य में सब प्रकार के जीवनादर्श की अनुरूपता का अनुभव कर महर्षि ने चिर जीवन की इच्छा प्रकट की है। जिस देश में विवस्वान् के पुत्र मनु राजा हैं, जिस देश में सूर्य का अपनी अनुकूलता के लिये उपस्थान होता है, जिस देश में वे सिन्धु, सरस्वती, गंगा, यमुना आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ विद्यमान हैं, उस देश में मुझे चिरंजीवी करें। अपने राष्ट्र नायक को अधिकार वरण करते समय महर्षि ने उचित कर्त्तव्य का आचार्य के रूप में इस प्रकार सन्देश दिया है। 'हे राजन् आपको राष्ट्र का प्रभुत्व प्राप्त हुआ है। क्षात्र-तेज के साथ आप अभ्युदय को प्राप्त करें। आप जन्म से ही प्रजाओं के स्वामी हैं और अद्वितीय सम्राट के रूप में विराजमान हैं। सम्पूर्ण दिशायें और उपदिशायें आप का सर्वदा आह्वान करें। आप इस राज्य में सबको मिलने योग्य तथा नमस्कार करने योग्य हैं।'

अपने राष्ट्र-नायक की सर्व-जन-सुलभता तथा सर्व-जन-पूज्यता की अपूर्व विशेषता का ध्यान करते हुये ऋषि ने प्रजा-रंजन के महनीय कर्त्तव्य की पूर्णता के लिये प्रबुद्ध किया है। अपनी निर्भयता और ऐश्वर्य की सिद्धि के लिये इस प्रकार निवेदन की भावना भी मिलती है—आप को समस्त प्रजाजनों ने राज्य के लिये चुना है, सम्पूर्ण दिशा तथा उपदिशाओं में रहने वाली ये पाँच प्रकार की देवी (विद्या, धन, शौर्य और यश से चमकती हुई प्रजायें) अभिनन्दन करती हैं। आप राष्ट्र के डिल जैसे ऊँचे राज्यासन पर बैठें। तत्पश्चात् शत्रुओं के लिये भयानक हो, हमें अनेक प्रकार के धन दें।'

राज्याधिकार की व्यावहारिक-मंगल-कामनाओं के साथ अपनी सनातन महनीयता की समाधि में राष्ट्र के परम-तेज को आशीर्वचन से भी ऋषि ने सम्मानित किया है। 'आपके समस्त जय-जय शब्द करते हुये समानाधिकार के सब राज्य-गण आयें। अग्नि-तुल्य तेजस्वी आपके राजदूत मित्रराष्ट्रों वाले हों। आपकी स्त्री और आपके पुत्र सर्वदा प्रसन्न मन वाले हों। आप शत्रुओं के लिये भयानक हों, प्रजाजनों के अनेक प्रकार के उपहार को देखें।' राजाज्ञा के मार्ग में अच्छी तरह चलने वाली, ऐश्वर्य-शालिनी, अनेक भेदों तथा रूपों वाली सब प्रजायें मिलकर आपके लिये श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कार्य करें, एकात्मभाव से सर्वदा आपका आवाहन करें। आप शत्रुओं के लिये भयदायक और महामना हो कर इस राज्य में सौ वर्षों तक निवास करें। इस प्रकार हमारे ऋषि राष्ट्र को ऐश्वर्य-प्रधान मानते हैं। राष्ट्र के ऐश्वर्य-सम्वर्द्धन अथवा संरक्षण के लिए जन-शक्ति की सक्रियता एवम् अभय-संकल्प की दृढ़ता नितान्त अपेक्षित होती है। महर्षि ने इस अदम्य तेजस्विता को प्रबुद्ध करने के लिए कहा है, हे नेतृत्वशाली मानव! आप लोग आगे बढ़े और विजय को प्राप्त करें। आप लोगों को ऐश्वर्यशील परमात्मा सुख और शान्ति दे। आप लोगों की भुजायें उग्र बलवान हों, जिससे आप लोग किसी के द्वारा पराधीन न बनाये जा सकें।

अतिशय सहिष्णुता मृत्यु का प्रतीक होती है, जो व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र इसी की उपासना को ध्येय बना लेता है, उसके अस्तित्व को अनस्तित्व में

परिणत होते देर नहीं लगती। भारत भौतिक-सुख सुविधाओं से पूर्ण राष्ट्र रहा है। इसलिये इसका सुख लूटने के लिये स्वकीय अथवा परकीय, खुलकर या छिपकर सर्वदा प्रयत्न करते रहे। ऋषि ने इनके अस्तित्व की घातकता के उन्मूलन के लिये कहा है—'जो हमारे सम्बन्धी होकर भी अप्रिय आचरण करते हैं, जो दूर रहकर भी हमें छिपे रूप में मारना चाहते हैं, उनको समस्त विद्वान पुरुष नष्ट कर दें। वेद ज्ञान अथवा परात्पर ब्रह्म मेरे अन्तर्जगत के रक्षक हों, आनन्दघन मेरी अन्तरात्मा का मंगल करें।'

सामाजिक जीवन में अमंगल अथवा उत्पीड़न को बढ़ानेवाले राष्ट्र के शत्रु होते हैं। उनके अस्तित्व को सहिष्णुता की दृष्टि से देखना सर्वनाश का कारण होता है। इसलिये समाज के मंगलमय भविष्य के लिये अशुभ-शक्ति का निर्दलन अनिवार्य होता है। इनके प्रति अभिशाप के रौद्र-संकल्प का भाव जगाते हुये महर्षि ने जन-जीवन को आत्मसम्मान के लिये उद्बुद्ध किया है। द्वेषभाव रखनेवाले शत्रु-गण बिना मस्तिष्क के सर्पों की तरह विवेक शून्य हो जाएँ। अपने ही क्रोध की आग से जलने वाले उनके श्रेष्ठ पुरुषों को हमारे राष्ट्र का तेज विनष्ट करे। छलपूर्वक किसी की शक्ति का शोषण करने वाले, भय और आतंक से खा जाने वाले तथा पराधीन बनाने वाले अनेक प्रकार के अनयपूर्ण कार्य, शत्रु-शक्ति के सहज व्यापार होते हैं। इनके प्रति असहिष्णुता का रौद्र-संकल्प जब प्रबुद्ध होता है, तभी आत्मसंमान तथा दैशिकगौरव की सुरक्षा का पथ प्रशस्त होता है। महर्षि ने अपने राष्ट्र के सेनाध्यक्ष तथा न्यायाधीश-स्वरूप इन्द्र को एतदर्थ विनयपूर्वक इस प्रकार सावधान किया है। 'हे इन्द्र! हे वृत्रहन्! राक्षस पुरुषों तथा परधन-लोलुप शोषकों को विनष्ट कीजिए। प्रगति-रोधक विघ्न रूपी शत्रुओं के आघातकारी दाढ़ों को तोड़ दीजिए। दास की तरह हमें पराधीन करने वाले आभ्यन्तर-व्यसन रूपी शत्रुओं के अभिमान और क्रोध का संहार कीजिए।' 'हे इन्द्र! हमारे अर्थ-लोलुप शोषकों को नष्ट कीजिए और अपनी सेनायें बढ़ाने वालों को नीचा दिखाइये, जो हमें दास के समान, पराधीन बनाना चाहते हैं, उन्हें अन्धकार में डाल दीजिए।'

अपने राष्ट्र के आराध्य तेज के प्रभाव से परिचित होकर ही लोक-मंगल-साधना के प्रतिनिधि ऋषि ने प्रार्थना की है। अनुभव की आँखों से अपने आराध्य की नियमन कारिणी शक्ति को वे देखते भी हैं। इस इन्द्र के क्रोध के संकल्प के सामने समस्त विश्व की प्रजायें इस प्रकार झुकती हैं, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलने स्वयं चली आती हैं। तेजस्विता, ऐश्वर्य और सहृदयता सब प्रकार से इन्द्र की शक्ति अपरिमेय है। जिस प्रकार इन्द्र की शक्तियाँ अनन्त है, जिनके धन की सीमा नहीं है। जिनका दान प्रकाश की भाँति सबको दबा लेता है। इसलिए पूर्ण प्रभु-शक्ति के प्रतीक इन्द्र के योग से अपने को शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यमय होने की आकांक्षा प्रकट करना प्रजा-वर्ग के लिए स्वाभाविक है। हे ऐश्वर्यशालिन्! इन्द्र! हम आपकी सहायता से अपने को परम शक्तिशाली समझनेवाले को दबाने में समर्थ हों। आप हमारे रक्षक हैं। आप ही हम को सब प्रकार से बढ़ाने वाले हैं, हम आपकी अनुकम्पा से प्रजाबल और चिर—जीवन को प्राप्त करें। इन्द्र की शक्ति और सहायता से प्रीत होकर उन्हें अपनी प्रणति समर्पित करने में ऋषि गण कृतार्थता का अनुभव करते हैं।

हे इन्द्र, हे शक्ति के स्वामी, आपकी मित्रता से वैभवशाली होकर हम किसी से भयभीत न हों, सबको जीतने वाले तथा किसी दूसरे से न जीते जाने वाले आपको हम सब ओर से नमस्कार करते हैं। इस प्रकार के महापराक्रमी अप्रतिम दानशील, राष्ट्र-नायक को प्राप्त कर भारतीय-प्राण अपने को हिन्दु (सिन्धु) कहने में गौरव का अनुभव कर सका है। 'हे महायोद्धा, आपके दानों से आकृष्ट हो अपने को हिन्दू (सिन्धु) कहता हुआ मैं आपके समक्ष आता हूँ। इन्द्र की भाँति वरुण को भी वैदिक-ऋषियों ने ईश्वरत्व की अनन्तशक्ति से समन्वित राष्ट्रनायकत्व का आराध्य प्रतीक माना है। उनकी शासन कारिणी अद्भुत्-क्षमता का परिचय इस मंत्र से स्पष्ट प्राप्त हो रहा है। राजा सम्राट् वरुण (दुःखों का निवारण करने वाले) ने निश्चित् रूप से सूर्य के लिये तथा अन्य ग्रहों को उनके अनुकूल चलने के लिये विस्तृत मार्ग को बनाया है, पैर जहाँ नहीं टिक सकते। वहाँ (जल में, आकाश में) पैर रखने के लिये इन्होंने साधन (व्योमयान, जलयान) को बनाया है। हृदय को बेधने वाले

अमृत कटु भाषणादि कर्मों को निस्संदेह वे रोकने वाले हैं।

अपने राष्ट्र की शासन-नीति के प्रतिष्ठापक वरुणदेव का स्वागत करने के लिए जन-जीवन कितना उत्सुक है :—

कदा क्षत्रश्रियं नरम्, आ वरुणं करामहे।
मृडीकाय उरुचक्षसम् ॥ (ऋ० १।२५।५)

सर्वत्र फैली हुयी दृष्टि वाले, क्षत्रियत्व के ऐश्वर्य से सम्पन्न वीर वरुणदेव का अपनी ओर कृपा-दृष्टि के लिए कब हम स्वागत करेंगे। इन वरुणदेव की शक्ति सर्वथा सृष्टि-व्यापिनी है। आकाश में चलने वाले विमानों के मार्ग को ये जानते हैं और समुद्र में चलने वाली नौकाओं के मार्ग को ये जानते हैं। इसी कारण सम्राट वरुणदेव अपनी प्रजाओं में साम्राज्य की प्रतिष्ठा में अविरत दत्तचित्त हैं। वे दृढ़ नियमों के पालक तथा शुभ कर्मों के अनुष्ठाता हैं। इसलिये अपने अपराधों की यातना से मुक्ति के लिए लोग वरुण से संस्तुति पूर्वक इस प्रकार प्रार्थना करते हैं। हे राजन्! आपके पास दुःखों से निवृत्ति के उपाय सैकड़ों और सहस्रों हैं। आपके पास गम्भीर श्रेष्ठ बुद्धि है, अपराध में प्रवृत्त करने वाली दुर्वृत्ति को हमसे पृथक् कर दूर देश में नष्ट कर दीजिए और किए हुये अपराधों से भी हमें मुक्त कर दीजिए। वरुण को अपने अपराधों की यातना से त्राण के लिए जन-जीवन का प्रतिनिधित्व करते हुए ऋषि गण इस प्रकार निवेदन करते हैं—ये सम्राट् वरुण देव, मनुष्य और देव-लोक सब पर शासन करते हैं। विश्व-वैभव को देखने के लिये सौ वर्ष से भी अधिक आयु की प्राप्ति के लिये प्रजाजनों के प्रतिनिधि ऋषि ने प्रार्थना की है।

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा, ये च देवाः असुर! ये च मर्ताः।
शतं नो रास्व शरदो विचक्षे, अश्याम आयूंषि सुधितानि पूर्वा ॥

जीवन की सुखाशाओं की उपलब्धि के लिए महर्षि-गण अपनी महत्वाकाङ्क्षाओं के प्रति राष्ट्र के संवर्धनशील नियन्ता को इस प्रकार आकृष्ट करते

दिखाई देते हैं। हे वरुण ! हम से भय को भली-भाँति दूर कीजिए, हे सम्राट् सच्चे (अविचल) नियमों वाले हम लोगों पर अनुग्रह करें। बछड़ों के गले से रस्सी की भाँति हमसे पाप को दूर कीजिए। आप से छिपकर रहने के लिए प्राणियों का निमेष भी समर्थ नहीं है। छल-बल से दूसरों की कमाई का भोजन करना लोक-मंगल के विधान की दृष्टि से हमारे ऋषिगण अपराध समझते हैं। इसलिए अपने राष्ट्र के विधाता से निवेदन करते हुए कहते हैं। 'हे राजन् ! मेरे किए हुए ऋणों को अब मुक्त कर दीजिए। मैं दूसरों के कमाये हुए धन से भोजन न करूँ। क्योंकि ऋणी मनुष्य के लिए बहुत सी उषायें उदय होती हुई भी, ऋण की चिन्ता से उदय हुई नहीं प्रतीत होती हैं। हे वरुण ! उन प्रतिदिन उदय होने वाली उषाओं में हम लोगों को अपने जीवों को ऋण-मुक्त कर कोई दूसरा उपदेश दीजिए। वरुण के अप्रतिम-शासन-शील तेजः स्वरूप की भाँति अग्निदेव भी हमारे राष्ट्र के परमपूज्य विश्वास हैं। वे अपनी तेजस्विता में वरुण स्वरूप हैं। उनका अभिनन्दन करते हुए ऋषि ने कहा है:—

त्वं अग्ने ! राजा वरुणो धृतव्रतः, त्वं मित्रो भवसि दस्मः ईड्यः।

(ऋ० २।१।४)

हे अग्ने ! आप अडिग व्रत-धारी सम्राट् वरुण हैं। आप ही दुष्टों को दंड देने वाले स्तुति योग्य मित्र हैं। अग्निदेव को विष्णु के रूप में भी महर्षि ने संस्तुत किया है। हे अग्ने ! आप सज्जन पुरुषों के लिए अभीष्ट पदार्थों की वर्षा करने वाले इन्द्र हैं, और आप महती स्तुति सम्पन्न वन्दनीय विष्णु हैं। अग्नि देव के लिए नृपति शब्द का प्रयोग करते हुए आर्थिक-शासन में उनके पूर्ण प्रभुत्व का भी ऋषि ने परिचय कराया है। हे नृपते ! आप ऐश्वर्य-शक्ति-संपन्न धन के नियन्ता हैं। जो घर में आप की उपासना करता है, उसके आप रक्षक हैं। अग्निदेव की आदर्शशासनशीलता की स्तुति अनेक मंत्रों में हृदय से महर्षि ने की है। अर्थ-संचय की दुष्परिणति के वे आदर्श नियन्ता हैं। जिस प्रकार सूर्य देव में किरणें सब ओर से अविचल रहती हैं, उसी प्रकार सबके पथ-प्रदर्शक अग्निदेव में सब प्रकार

के धन सब ओर से अविचल रहते हैं। पर्वतों में, ओषधियों में, जलों में तथा मनुष्यों के खजाने में जो धन हैं; हे अग्निदेव, उन सब धनों के आप राजा हैं। इस प्रकार सृष्टिव्यापी वैभव का पूर्ण-परिचय और नियमन ही आज के विश्व की सबसे बड़ी आदर्श-समस्या है। हमारे अग्निदेव इस समस्या के आदर्श समाधान हैं। वे ध्वंसक-संकल्प शून्य, विश्वव्यापिनी एकत्वानुभूति की सहृदयता के दिव्य प्रतीक हैं। संरक्षण अथवा अनुशासन की पूर्ण-शक्ति के साथ उनकी सर्वव्याप्ति भी पूर्णता की है; इसलिए प्रत्येक प्राण-सृष्टि आत्मरक्षा के लिए उन्हें पुकारती है। जिस क्षण प्राण की अग्नि-शक्ति समाप्त होती है, उसी क्षण उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। इसलिए सब ओर से उनके प्रति रक्षा की पुकार स्वाभाविक है। द्यु लोक में, पृथिवी लोक में, सब प्राणियों में सब के पथ-प्रदर्शक अग्निदेव सदा पूर्ण-शक्ति के साथ विद्यमान हैं। वे दिन में तथा रात्रि में दुःखों से हमारी रक्षा करें। अग्निदेव ही आदर्श-राजदूत का काम करते हैं, और उत्तम-धन-आनयन के लिए उद्योग तथा दान के अनुष्ठाता भी हैं।

त्वं दूतः त्वम् उ नः परस्पा, त्वं वस्यः आ वृषभ! प्रणेता। ऋ० २।१।७

वृषभ संबोधन द्वारा महर्षि ने अपने राष्ट्रनायक को प्रजाजनों के लिए सब प्रकार के सुखों की वर्षा करने वाला कहा है। राजन्य-जीवन की सतत सक्रियता तथा जन-रंजन की सहृदयता की यही सब से बड़ी गुणात्मक विभूति है। मनुष्यों के त्राण में सतत क्रियाशील अग्निदेव शाश्वत् यौवन के प्रतीक हैं। वे अपना अभिनंदन करने वाले स्तोताओं के सदा त्राता हैं। इसलिए मनीषी-प्राण में यौवन के अजर तेजः स्वरूप अग्निदेव से रक्षा के लिए विनय भावना भी मिलती है। यहाँ यविष्ठ संबोधन द्वारा राष्ट्रनायक के प्रौढयौवन की अप्रतिम अनन्त-तेजस्विता की ओर जहाँ संकेत है; वहीं 'सहस्रो' सबोधन द्वारा शक्ति से उनकी पूर्ण-समर्थता भी द्योतित हो रही है। अग्निदेव की भाँति सोम को भी अमित-शक्ति-सम्पन्न-शासक तथा पथ-प्रदर्शक के रूप में ऋषि ने अभिनन्दित किया है। सोम की भाँति ही रुद्र भी हमारे ऋषियों के

परम तेजस्वी आदर्श हैं, उनकी उग्रता सृष्टि-यज्ञ का ध्वंस करने वाली नहीं है। उनसे सुन्दर बुद्धि के लिए प्रार्थना करते हुए महर्षि ने कहा है :—

त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं, वङ्कुं कविम् अवसे निह्वयामहे।
आरे अस्मद् दैव्यं हेडो अस्यतु, सुमतिम् इद् वयम् अस्य आवृणीमहे॥
(ऋ० १।११४।४)

हम लोग प्रकाश स्वरूप, सृष्टि-यज्ञ के साधक, दुष्टों के लिए वक्र, सर्वज्ञ रुद्र को रक्षा के लिए अत्यन्त आदर पूर्वक बुलाते हैं। वे हम लोगों से आड़ में दैवी क्रोध को फेंकें। हम लोग उनकी सुन्दर मति को माँगते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि रुद्र-देव शासन की सैनिक शक्ति के ही प्रतीक नहीं हैं, अपितु आराध्य मार्ग-दर्शक भी हैं। लोक-मंगल के न्याय प्रतिष्ठापक-प्रभुत्व के साथ आराध्य-निष्ठा की समन्विति की पूर्णता को महर्षि ने सर्वत्र देखा है :—

इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः, अथो दिव्यः सः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः॥
(ऋ० १।१६४।४६)

लोक के रञ्जक तथा प्रतिष्ठापक-तत्वों की समन्वयात्मक पूर्णता के लिये ब्रह्मचर्य और तप को अनिवार्य महत्ता प्रदान की गई है :—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।

पूर्ण मानव-मंगल के प्रतिष्ठाव्रती ऋषि ने कलुष वृत्ति के आर्यों को भी विरोधी प्रकृति के दासों के साथ विध्वंस करने के लिए प्रार्थना की है :—

त्वं तान् इन्द्र ! उभयान् अमित्रान्, दासा वृत्राणि आर्या च शूर।
वधीः वना इव सुधितेभिः अत्कैः, आ पृत्सु दर्षि नृणां नृतम्॥
(ऋ० ६।३३।३

हे इन्द्र ! हे पराक्रमशालिन् ! आप उन दोनों शत्रुओं को जो पापात्मा दस्यु और आर्य हैं, मार डालिए। हे नेताओं के श्रेष्ठ नेता, जिस प्रकार कुल्हाड़ी से जंगल काटे जाते हैं, उसी प्रकार उन्हें तीक्ष्ण किए हुए अस्त्रों से युद्धों में विध्वस्त कीजिए। हे अनेक जनों सेस्तुत्य इन्द्र ! जो आप को न मानने वाले दस्यु अथवा आर्य युद्ध के लिए ललकारते हैं, वे सब शत्रु हमसे पराजित

हों। आपकी सहायता से हम उन्हें युद्ध में मार डालें। गायों पर अत्याचार करने वाले पणियों को महर्षि ने देवों की ओर से दूती का काम करने वाली सरमा के द्वारा इस प्रकार आतंकित कराया है :—

दूरमित पण्यो वरीय उदूगावो यन्तु मिनती ऋतेव।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूहृलाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः ॥

हे पाणियों, यहाँ से बहुत दूर भाग जाओ। गायें कष्ट पा रही हैं। वे धर्म के आश्रय में इस पर्वत से लौट चलें। बृहस्पति, सोम, सोमाभिषव-कर्त्ता पत्थर, ऋषि और मेधावी लोग इस गुप्त स्थान में स्थित गायों की बातें जान गये हैं। इस प्रकार प्रभु-शक्ति के अनेक रूपात्मक आदर्शों की व्यंजना वैदिक-मंत्रों में अत्यन्त प्रभविष्णु मिलती है। युग के राजनैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा में इससे पर्याप्त प्रेरणा मिलती है। धर्म-दर्शन और पदार्थ-विज्ञान को राजनीति से मिलाने का मौलिक प्रयास दिखाई देता है। प्रशासन, दण्डनीति तथा अर्थ नीति पर मार्मिक प्रकाश डाला गया है।

वैदिक साहित्य में प्रकृति-दर्शन

आधुनिक युग की समर्थ प्रतिभाओं ने जो कलात्मक क्रान्ति की है, उसका छायावाद नामकरण चाहे जिस धारणा से किया गया हो, चाहे उसके प्रयोक्ताओं की उसके प्रति श्लाघ्य निष्ठा भले ही न रही हो, पर 'छाया' शब्द का दिव्य शक्ति के अर्थ में प्रयोग मिलता है, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। ऋग्वेद के ऋषि ने 'छाया' शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है—जो प्राणदाता और बलदाता है, जिसके प्रशासन को प्राणी-अप्राणी सब मानते हैं और विद्वान लोग जिसकी उपासना करते हैं। जिसकी छाया अमृत है, मृत्यु जिसकी वशवर्तिनी है, उस आनन्दमय देव की हम श्रद्धा-भक्ति पूर्वक पूजा करते हैं। 'दुर्गा-सप्तशती' में छाया का प्रयोग इस प्रकार किया गया है :—

या देवी सर्व भूतेषु, छाया रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यैः नमस्तस्यैः नमस्तस्यै नमोनमः॥

यहाँ छाया की शक्ति के रूप में वन्दना की गई है। छाया शब्द अपने अभिधेयार्थ के द्वारा अन्धकार और प्रकाश दोनों की ओर संकेत करता है। इसलिए अरूप जीवन की रूपात्मक ज्योति:सृष्टि को भी छाया कह सकते हैं ज्योति रूपिणी सूर्य की पत्नी भी है। यदि जीवन के अन्धकार पक्ष से ही छाया शब्द का सम्बन्ध आलोचक जोड़ते हैं, तो उन्हें यह भी समझना चाहिये कि:—

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्ये नाभ्वपिहितं यदासीत्त पसस्तन्महिम्नाऽजायतैकम्॥

(ऋग्वेद १०।१२६।३)

इसी सत्य को उपनिषद इस प्रकार कहता है :—

य: तमसि तिष्ठन् तमस अन्तरः, यं तमो न वेद, यस्य तमः शरीरम् ।
य: तम अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥

इस तमसावृत अथवा तमोमय प्रकाश के साथ अनुभूत्यात्मक आत्मीयता के बिना मानवीय-सृष्टि सौन्दर्य की पूर्णता सर्वथा असंभव है। इसलिए प्रकृति के शक्तिमय अस्तित्व के साथ सेन्द्रिय-मानव चेतना की तादात्म्याभिव्यक्ति के द्वारा व्यक्ति-मानव में समष्टि-मानव का आकर्षण भरकर सप्राण सामाजिक आदर्श की प्रतिष्ठा भारतीय महर्षि—कवियों ने की है। व्यक्ति-चेतना के उन्मुक्त तथा सप्राण सौन्दर्यबोध का जिस रूपात्मक शैली में प्रयोग वैदिक वाङ्मय में मिलता है। वह अचेतन तथा सामान्य चेतन सत्ता के साथ मानवीय चेतना की सौन्दर्यानुभूति के रूप में मिलता है और अतिमानवीय सौन्दर्य की विराट् तथा सूक्ष्म दिव्यानुभूति के रूप में भी। प्रथम शैली की सांस्कारिक चेतना यदि आज की छायावाद के नाम से अभिहित काव्य-ध्वनि में मिलती है, तो दूसरी रहस्य-वाद के नाम से विज्ञापित काव्य-धारा में। इनके यथार्थ परिचय के प्रति भ्रान्ति का कारण आधुनिक समीक्षकों की परवशता ही है। भारतीय काव्य की उन्मुक्त सांस्कृतिक चेतना की प्रवर्त्तनात्मक ध्वनियों के साथ वाद का निरर्थक पुछल्ला लगाकर बदनाम करना ही इनका लक्ष्य रहा है। अचेतन के द्वारा व्यक्ति मानव चेतना की सौन्दर्यानुभूति का मधुर प्रत्यक्ष रात्रि और उषा के सम्बन्ध की अनेकशः मंत्र-ध्वनियों में मिलता है। पति के शासन में रहने वाली रात्रि और उषा स्वरूपिणी बहनों की जीवन झाँकी दर्शनीय है 'दोनों बहनों का मार्ग एक और अनन्त है। देवशासित होकर दोनों अलग-अलग उस पर चलती हैं। विपरीत रूपों तथा एक मनवाली दोनों न बुरा-भला बोल पाती हैं और न खड़ी होती हैं। पुत्री के रूप में उषा की गौरव-झाँकी भारतीय ऋषि इस प्रकार देखते हैं—वह नित्य यौवन-सम्पन्ना, शुभ्रवसना, आकाश पुत्री उषा, अन्धकार का दृष्टि से दूर करती है, वह सारे पार्थिव धनों की अधीश्वरी है। सुभगे, तुम आज यहाँ अन्धकार दूर करो। यह वही उषा है, जो नवयौवन धारण कर और तेज

द्वारा निगूढ़ अन्धकार को विनष्ट करके जागती है। लज्जाहीना युवती की तरह सूर्य के सम्मुख आगमन करती और सूर्य यज्ञ, तथा अग्नि को शुभागमन सूचित करती है। युवती यज्ञवेदी है। उसके चार कोने है, उसकी मूर्ति सुन्दर और घृत के कारण स्निग्ध है। वह उत्तमोत्तम वस्त्रधारण करती है, दो पत्नी (यजमान और पुरोहित) उस पर बैठते हैं। वहाँ देवता लोग अपना अपना भाग पाते हैं। ज्वलन्त अग्नि की बालक स्वरूप में कल्पना की गई है, इस नवीन बालक अग्नि का क्या ही अद्भुत प्रभाव है। दूध पान के लिये यह बालक माता पिता के पास नहीं जाता है, परन्तु यह बालक—प्रादुर्भूत हुआ है। जन्म के साथ ही इस बालक ने कठिन दूत कार्य का भार ग्रहण कर उसका निर्वाह किया है। जिस 'पर्जन्य' के प्रति गीता के प्रत्यक्ष कर्त्ता महर्षि व्यास ने लिखा है कि:—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः। (गीता ३।१४)

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते है और पर्जन्य से अन्न उत्पन्न होता है। मानव समाज की इस मूल शक्ति-पर्जन्य का कैसा गौरव पूर्ण प्रत्यक्ष भारतीय ऋषि ने किया है। पर्जन्य वृक्षों को नष्ट करते हैं, राक्षसों का वध किया करते हैं और महान् भय द्वारा समग्र भुवन को कँपा देते हैं। प्रयत्नपक्ष में पर्जन्य की व्याप्ति शाश्वत् है। पर्जन्य का एक ओर शक्तिमय प्रत्यक्ष है, दूसरी ओर गौरवाभिनन्दन भी है। हे पर्जन्य, तुम्हारे ही कर्म से पृथिवी अवनत होती है, तुम्हारे ही कर्म से पादयुक्त पशु समूह पुष्ट होते हैं। तुम्हारे ही कर्म से ओषधियाँ विविध वर्ण धारण करती हैं। तुम्हें हम लोगों को महान् सुख प्रदान करना चाहिये। स्पर्शानुभूति में प्रत्यक्ष होने वाले वायु की कैसी गौरव-अनुभूति भारतीय ऋषि को हुयी है—वायु तुमसे पहले किसी ने सोम पान नहीं किया है, तुम्हीं इसके प्रथम पान करने योग्य हो। तुम हवन कर्त्ता निष्पाप लोगों का हव्य स्वीकार करते हो। सारी गायें तुम्हारे लिए दूध देती हैं और दूसरे घी भी प्रदान करती हैं। पृथिवी पर उगने वाली वनस्पतियों पर मातृत्व का आरोप कर शिशु हृदय ऋषि ने इस प्रकार निवेदन किया है—'हे मातृरूप ओषधियों, तुम्हारे जन्म असीम हैं और तुम्हारे प्ररोहण अपरिमित हैं। तुम सौ कर्मों वाली हो,

तुम मुझे आरोग्य प्रदान करो। यही छाया स्मृति चरम आध्यामिक दिव्य ज्योति में राम की सहधर्मिणी जानकी के रूप में परिणत पाती है। ऋग्वेद के नवें अनुवाक के १०८ वें सूक्त में लुटेरे पणियों के साथ राजनीतिक दूती का काम कुतिया सरमा करती है। यहाँ पर मानवीय नारी का आरोप कर महर्षि कवि ने बड़ा मनोहर संवाद दिया है। पशु-पक्षियों के संवाद की इस परम्परा ने भारतीय काव्य में आकर्षण भर दिया है। वाल्मीकि रामायण में कुत्ते और भिक्षुक द्विज का विनोद पूर्ण कथानक इस प्रकृति-स्मृति की ही अनुध्वनि है। महर्षि कवि तुलसीदास के काव्य में इसमहच्चिन्तन का अपूर्व चमत्कार गृद्धराज, हनुमान, जाम्बवान्, अंगद सुग्रीव आदि के साथ काकभुसुंडिजी की चरित्र सृष्टि में मिलता है। पृथ्वी और सूर्य के पारस्परिक स्नेह सम्बन्ध की छाया—स्मृति का प्रत्यक्ष महर्षि कवि ने इस प्रकार दिया है—'एक अच्छे पक्षों (किरणों) वाला पक्षी सूर्य अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुआ। वह समस्त चेतन तथा अचेतन जग को देखता है, उसे विशुद्ध मन से अत्यन्त सन्निकटता से मैंने देखा। माता (भूमि) उसको चाटती है, उससे जल वृष्टि लेती है और वह माता को चाटता है। रात्रि और दिवा को सूर्य की कन्या के रूप में कवि ने इस प्रकार अभिनन्दित किया है—दीप्तिमान सूर्य की विभिन्न रूपिणी दो कन्यायें (रात्रि और दिवा) हैं। इनमें एक नक्षत्र समूह और दूसरी सूर्य के द्वारा समुज्ज्वल है। पृथक् रूप से संचरणशीला, परस्पर विरोधिनी एवं पवित्रता विधायिनी तथा सर्वथा स्तुत्य ये देवियाँ हमारा स्तोत्र सुनकर प्रसन्न हों। वैदिक साहित्य में प्रकृति दर्शन बड़ा मनोरम है। इसकेस्वरूप की झाँकी अपनी पूर्णता में अनुपमेय है, यह वसुन्धरा अपनी सहज प्रवृत्ति का परित्याग कभी नहीं करती है।

सरस्वतीः सरयुः सिन्धु ऊर्मिभिः महोमही अवसाऽऽयन्तु वक्षणीः।
देवी आपो मातरः सदयित्वन्वो, घृतवत् पेया मधुमत नो अर्चत ॥

(ऋ० १०।६४।६)

नदियों की सुषमा भी विलक्षण है :—सरस्वती, सरयू और सिन्धु अपनी लहरों से जो बड़ी-बड़ी नदियां हैं। वे हमारी रक्षा के लिए आयें और दिव्य

जलों वाली तीनों माताएँ सत्कर्मों के लिए प्रेरणा करती हुई घृत तथा मधु के तुल्य अपने जल को दें। सरस्वती और सिन्धु के प्रति ऋषि-कवि की वाणी दिव्यतम है। हे श्रेष्ठमाता ! हे श्रेष्ठ नदी एवं देवी ! हम आपके बिना अप्रशस्तों के समान हैं। हे माता, हमें प्रशस्त कीजिए। करुणा के मधुर और गम्भीर संवेदन के साथ क्रोध की उग्रतर प्रकृति का भी मानव रूप में प्रत्यक्ष ऋषि-कवि ने कराया है। हे मन्यु, हमारा सामना करने वाले शत्रु को हराओ; काटते-काटते और मारते-मारते शत्रुओं के सामने जाओ। तुम्हारे दुर्द्धर्ष बल को कौन रोक सकता है? इस संक्षिप्त दर्शन से यह स्पष्ट है, कि वैदिक काव्य ध्वनि की प्रकृति-स्मृति नितान्त मधुर गम्भीर, तथा ओजस्वनी भावना से युक्त है। आध्यामिक संकल्पादर्शों की मानव-चेतना के माध्यम से ही इन्द्र, वरुण एवं सोम आदि की अनेक रूपों में अभिव्यंजना हुई है।

———

वैदिक धर्म-नीति

भारतीय-प्रकृति का धर्म ही प्राण है। पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि का यही आधार है। इसलिए इसकी सर्वश्रेष्ठता असन्दिग्ध है :—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजाः उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापम् अपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तस्माद् धर्मं परमम् वदन्ति। तै० आ० १०।६।३।

धर्म समस्त ससार की प्रतिष्ठा है, संसार में धर्मशील के पास समस्त प्रजायें आती है। धर्मात्मा प्राणी धर्म से पाप को दूर करते हैं। धर्म में सब कुछ प्रतिष्ठित है, इसलिए मनीषीजन धर्म को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। इस प्रकार यह धर्मनिष्ठा लोक-मंगल साधक सत्य-संकल्प से भिन्न नहीं है :—

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तं
आहुः धर्मं वदति इति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदति इति।
तद् ह एव एतद् उभयं भवति। शत० १४।४।२।२६।

जो यह निश्चय रूप से धर्म है, वही निर्भ्रान्त रूप से सत्य है। इसलिए सत्य बोलते हुए व्यक्ति के प्रति कहते हैं, कि यह धर्मानुरूप बोल रहा है और धर्म के अनुकूल बोलते हुए व्यक्ति के प्रति कहते हैं, कि यह सत्य बोल रहा है। सत्य के साथ असत्य की वैसी ही स्पर्धा रहती है, जिस प्रकार धर्म के साथ अधर्म की रहती है, पर विजय-श्री सत्य अथवा धर्म को ही मिलती है। समझदार मनुष्य को यह जानना सरल है, कि सत्य और असत्य दोनों वचन आपस में स्पर्धा रखते हैं। इन दोनों में जो सत्य है, वह अधिक सरल है, उसकी निश्चितरूप से ईश्वर रक्षा करता है और जो झूठ है, उसका

सर्वनाश करता है। आराध्य-देव इन्द्र को धर्म का प्रवर्त्तक मानते हुए ऋषि ने इस प्रकार संस्तुत्य कहा है। "हे मानव, आप लोग इन्द्र के लिए बृहत् साम (महान् संगीत) को गाएँ, जो महान हैं, मेधावी हैं, धर्म के प्रवर्त्तक हैं और पूजा के योग्य हैं।" नारी और पुरुष के दाम्पत्य-व्रत को धर्म के द्वारा विहित-अनुष्ठान कहा गया है। "भाग्यवान् ने तुम्हारे हाथ को पकड़ा है, प्रजा के उत्पादक ने तुम्हारे हाथ को ग्रहण किया है। तुम धर्म से पत्नी हो और मैं धर्म से तुम्हारा गृहपति हूं।" सृष्टि के स्रष्टा को सत्यधर्मा कह कर महर्षि ने अपने हृदय की निष्ठा को व्यक्त किया है। जिस सत्यधर्मा ने पृथिवी अथवा द्यौ का सर्जन किया है, जिन्होंने आह्लादप्रद बड़े जलों वाली नदी, समुद्रों, को बनाया, उन प्रजापति हिरण्यगर्भ की हविर्यज्ञ से श्रद्धापूर्वक हम पूजा करते हैं, वे हमें नष्ट न करें। सृष्टि के नियमों के साथ शुद्धाचरण पर बल दिखाई देता है। जो आचरण को पवित्र करने वाला, विस्तार वाला और सबसे प्राचीन धर्म है, जिससे पवित्र हुआ मनुष्य पापों को पार कर जाता है, उस परम पवित्र शुद्ध आचरण से पवित्र हुए हम भयंकर पापरूपी शत्रु को पार करें। संसार के सब प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना का इस प्रकार समर्थन मिलता है। हे अज्ञानध्वंसक! मुझे ज्ञान में दृढ़ करें, जिससे सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब प्राणियों को देखूं, हमलोग मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को देखें।" पुरुषत्व के प्रति गौरव-निष्ठा दिखाई देती है :—

पुरुषः एव इदं सर्वं यद् भूतम् यत् च भव्यम्। ऋ० १०।९०।२।

पुरुषः ही यह सब कुछ है, जो अब तक हुआ है और आगे होगा। यह पुरुषयज्ञ-संकल्प के साथ चार-वर्णों का प्रतिष्ठापक हुआ :—

ब्राह्मणो अस्य मुखम् आसीत्, बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तद् अस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत। ऋ० १०।९०।१२।

इसका मुख ब्राह्मण हुआ, दोनों भुजायें क्षत्रिय हुईं। दोनों रानें वैश्य के रूप में तथा चरणों के रूप में शूद्र कल्पित हुए। ब्राह्मण के संबंध में अनेक श्रुतियां मिलती हैं:—

मनुष्य की आयु सामान्य रूप से सौ वर्ष मानी गई है, इससे बहुत अधिक वर्षों तक भी वह जीवित रहता है:—

शतायुः वै पुरुषः। अपि हि भूयांसि शतात् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति।
तै० ब्रा० १।७।६। शत० १।९।३।१९।

सन्तति-परम्परा से मनुष्य अमृत रूप प्राप्त करता है:—

प्रजाभिः अग्ने! अमृतत्वम् अश्याम्। ऋ० ५।४।१०।

हे अग्ने! मैं पुत्र-पौत्रों से अमृतत्व को प्राप्त करूं। मनुष्य ऋण के साथ पैदा होता है। उसे ब्रह्मचर्य के द्वारा ऋषियों से, यज्ञ के द्वारा देवताओं से और प्रजा के द्वारा पितरों से उऋण होना पड़ता है। श्रम और तप के प्रति समान निष्ठा मिलती है। प्रकृति की उपासना के कारण संयम-संकल्प की पुष्टि हुई है।

वैदिक-भक्ति-भावना

जीवन के श्रम-मूलक संघर्ष अथवा बोध-मूलक तपः संकल्प में ज्यों-ज्यों अनुभूत्यात्मक विश्वास की निर्भ्रान्तता मनुष्य को सुलभ होती गयी है, त्यों-त्यों सप्राण आत्मीयता की विनय वृत्ति का उद्रेक उसमें तीव्रतर होता गया है। प्रकृति की नियमानुवर्तिता अथवा अभिनव चमत्कृति-शीलता के मूल रहस्य की जिज्ञासा ज्यों-ज्यों बलवती होती गयी है, त्यों-त्यों व्यक्ति अथवा लोक-मंगल की सद्भावना में समुचित स्थिरता आती गयी है, इस प्रकार प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में आत्म-मङ्गलकारिणी दिव्य-शक्ति का अनुभव कर एक ओर मनुष्य ने निराशामयी-संशयशीलता से ऊपर उठकर जीवनाकांक्षा में आनन्दमय उत्साह का अमुभव किया है, दूसरी ओर समष्टिव्यापी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र मङ्गलमय आलोक की पूर्णता की प्रतीति द्वारा रिक्तता अथवा अतृप्ति-जन्य विवशता में आह्लाद भाव की समर्थ-शक्ति का अनुभव किया है। भारत-वर्ष संसार के अन्य देशों की अपेक्षा प्राकृतिक विभूतियों की निरुपमता, अद्भुतता तथा सर्वाङ्ग पूर्णता का महिमामय दिव्यकेन्द्र है। शरद की निर्मल मधुर श्री ने सभ्यता के प्रारम्भिक-युग में मानव-प्राण शक्ति में जीवनाकांक्षा का अमन्द उत्साह यहाँ भर दिया है :—

तच्चक्षुः देवहितं पुरस्तात् शुक्रम् उच्चरत्।
पश्येम शरदः शतम्, अदीनाः स्याम् शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्।
(यजु० ३६।१४)

यह सबका पथ प्रदर्शक, विद्वानों का प्रिय, परम पवित्र समक्ष उदित है। (हे देव हम आपकी कृपा से) सौ वर्ष देखें, सौ वर्ष जीवित रहें, सौ वर्ष

अदीन रहें, सौ वर्ष से भी अधिक अदीन जीवन प्राप्त करें। सृष्टि व्यापक प्रकाश स्वरूप विष्णु तत्व का अनुभव ऋषि ने प्राप्त करा दिया है। जिसके विषय में लिखा है :—

'जो विष्णु का सबसे उत्कृष्ट पद है, उसे बुद्धिमान्, निष्काम कर्मयोगी अज्ञान-निद्रा से प्रबुद्ध अपने हृदय-मन्दिर में अच्छी तरह प्रकाशित करते हैं।' विष्णु-स्वरूप की व्यापकता से अनुप्राणित करने के लिए जीवन की निःसंगमाधुरी का प्रत्यक्ष आवश्यक है। मैं विष्णु की किन-किन शक्तियों को कहूं, जिसने पृथ्वी के कण-कण को माप लिया है। इन विष्णुदेव ने एकाकी समस्त सृष्टि को संभाला है। जिस विष्णु ने एकाकी त्रिगुण अव्यक्त, पृथिवी, द्यौ तथा सब प्राणियों को धारण किया है, उस देव के प्रति अपनी पूर्ण सद्भावना का परिचय ऋषि ने इस प्रकार दिया है। "अर्थ को जानते हुए इन विष्णु देव के नाम का आमरण-उच्चारण कीजिए। हे विष्णो! हम आप महान् की श्रेष्ठमति का अनुसरण करें।" विष्णुदेव की भांति वरुणदेव के प्रति अपनी श्रद्धा को कवि ने प्रकट किया है। सबके ऊपर दृष्टि रखनेवाले, क्षत्रियत्व के आदर्श से युक्त वीर वरुण का अपनी ओर कृपादृष्टि के लिये कब हम स्वागत करेंगे। वरुणदेव सृष्टि-व्यापी प्रभुत्व से सम्पन्न हैं। जो आकाश में रहते हुए आकाशचारी विमानों के मार्ग को जानते हैं और समुद्र में रहते हुए सामुद्रिक मार्गों के प्रदर्शक हैं, ये वरुणदेव प्रजाओं में साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए पूर्ण प्रबुद्ध हैं।

व्रत को धारण किए हुए शोभन, कर्मयज्ञ के अनुष्ठाता वरुण अपनी प्रजाओं में साम्राज्य के लिए सब प्रकार से प्रबुद्ध हैं। वरुणदेव की भांति ही अग्निदेव के प्रति भी हमारे ऋषियों की अनेक रूपों में भक्ति-भावना प्रकट हुई हैं। "हे अग्निदेव! आप ही हमारे पिता और उत्तम शिक्षक हैं। आप ही सोमयोग्य आर्यों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाले तथा मनुष्यों को ऋषि बनाने वाले हैं।" एक ही सत्य के प्रकाश को अनेक रूपों में लोक-मगल करने में तत्पर जानकर ऋषियों ने अपने रागात्मक हृदय की भक्ति का परिचय दिया है, उदाहरण के लिए उक्त प्रसंग द्रष्टव्य है :—

स धाता स विधर्ता, स वायुः नमः उच्छ्रितम्।
स अर्यमा स वरुणः स रुद्रः सः महादेवः॥ (अथर्व० १३।४।४)

इन सर्वशक्तिसम्पन्नमहिमामय देव से रक्षा के लिए ऋषि ने प्रार्थना की है। "वे दिन में और रात्रि में हमारी दुःखों से रक्षा करें।" राष्ट्र-भक्ति की भावना भी अनेक रूपों में मिलती है। नदियों से विनम्र निवेदन के साथ महर्षि ने कहा है, "हम लोग आपके बिना अप्रशस्त के समान हैं।" चारों ओर एक ही प्रकाश का अनुभव करते हुए ऋषि ने कहा है—"वह सब ओर नेत्रवाला है और सब ओर मुखवाला है, द्युलोक और पृथिवी लोक का सर्जन करता हुआ वह एक देव सृष्टि संकल्प रूप तेज से अपने को भलीभांति तपाता है।" सृष्टि व्यापक उस ब्रह्म की ऋषि ने अनेकमन्त्रों में अपनी प्रणति-भक्ति समर्पित की है—

यो भूतं च भव्यं च, सर्वं यश्च अधितिष्ठति।
स्वर् यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्राह्मणे नमः। (अर्थव०।१०।८।१।)

"जो भूत, भविष्य एवं वर्तमान का शासक है, केवल दुख रहित आनन्द जिसका स्वरूप है। उन सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।" पारिवारिक जीवन की सम्बन्धानुभूति के साथ भी महर्षि ने अपने आराध्य की महिमा को व्यक्त किया है। "हे सबको बसाने वाले! आप ही हमारे पिता हैं। अनन्त ज्ञानस्वरूप आप ही हमारी माता हैं। हम आपके सुख के लिए प्रार्थी हैं।" भक्तिपूर्वक अपने आराध्य की स्तुति करते हुए महर्षि ने अन्तरात्मा को इस प्रकार विगलित किया है, "परमात्मा हमारा बन्धु, हमारा पिता तथा विधाता है। वह सब लोकों और पदार्थों को जानता है।" अपने उपासना-संकल्प की प्रकाशमयी पूर्णता पर आराध्य महर्षि का विश्वास सर्वथा अविचल है, जिसे उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तम् एव विदित्वा अतिमृत्युम् एति, न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय।

इन प्रकाशमय-ब्रह्म की संस्तुति के साथ महर्षि ने अपना प्रणति-पुण्य इस प्रकार समर्पित किया है—

"जो देवों को अग्नि, वायु, सूर्यादि रूप से अभिव्यक्ति के लिये आज्ञा देते हैं, जो देवों के समक्ष अज्ञात रूप से स्थित हैं, जो देवों से पूर्व सृष्टि-संकल्प रूप से प्रकट हुये हैं, उन प्रकाश स्वरूप ब्रह्म के लिये नमस्कार है।" इन्हीं ब्रह्म को प्राण रूप में महर्षि ने इस प्रकार प्रणति अर्पित की है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वम् इदं वशे। (अथर्व ११।६।१)

"उन प्राण-रूप ब्रह्म के लिये नमस्कार है। जिसके वश में यह समस्त संसार है।" परमात्मा के नाम की महिमा का भी महर्षि ने अनुभव किया है और इसका परिचयदेते हुए ऋग्वेद के ऋषि ने कहा है—

"हे यशस्विन्! मैं सर्वदा आपके नाम को स्मरण करता हूं।" इसी नाम स्मरण की महिमा का अनुभव अथर्ववेद के ऋषि ने कराया है—

नाम नाम्ना जोहवीति, पुरा सूर्य्यात् पुरोषसः।
यद् अजः प्रथमं सम्बभूव।

"जो प्रजापति को उसके नाम से सूर्योदय से पहले तथा उषा से पहले बार-बार पुकारते हैं और जो अजन्मा (मनुष्य) इस कर्म में (नाम स्मरण में) मुख्य होते हैं, वे निश्चय उस स्वराज्य को पाते हैं, जिससे बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है।"

भक्ति-भाव की पूर्णता की प्रतीति का आधार मुख्यतया नमन क्रिया होती है। हमारे ऋषिगण इससे पूर्णतया परिचित हैं—

नम इदुग्र नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुतद्याम्।
नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कथंचिदेनो नमसा विवासे।

(ऋ० अ० ८। अनु० ५। सू ५१।८।

"नमस्कार सबसे बड़ी वस्तु है, इसलिए मैं नमस्कार करता हूं, नमस्कार ही स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है, इसलिए मैं देवों को नमस्कार करता हूँ।"

इस प्रकार की विनयानुभूति के बिना क्षुद्रतर-स्वार्थ के अविश्वास मूलक ध्वंसात्मक अहंकारका नियन्त्रण कदापि नहीं हो सकता है, इसलिए यह विश्वास-मूलक विनय-भावना आज के विश्व के लिए पावन अमृत है।

नाम-स्मरण के महत्व-बोध द्वारा मनुष्य को पूर्णतया सामाजिक अभ्युदय की सिद्धि सुलभ होती है, तथा राजनीतिक आदर्श को प्रतिष्ठा मिलती है। लोक की इस मंगलमयी स्थिति की वन्दनीयता को अभिनन्दित करते हुए इस प्रकार अपनी प्रणति-पुष्पाञ्जलि आराध्य महर्षि ने भेंट की है। अपने आराध्य की सहज क्षमाशीलता पर पूर्ण भावुकतामय विश्वास है। जिसका परिचय इन्होंने इस प्रकार दिया है—

"हे प्रभो ! आप देवकृत अपमान रूपी पाप को क्षमा करने वाले हैं, पितृकृत आज्ञा भंग रूपी पाप को क्षमा करनेवाले हैं, मन में किए हुए अनिष्ट-चिन्तन रूपी पाप को क्षमा करनेवाले हैं, ज्ञानावस्था एवं अज्ञात सभी प्रकार के पापों को आप मुक्त करनेवाले हैं। अपने आराध्य की इस सहृदयता का अनुभव करते हुए पूर्ण तृप्ति के लिए निवेदन भी विनय पूर्वक इस प्रकार किया है— हे प्रभो मेरे मन को तृप्त कीजिए। मेरी वाणी को तृप्त कीजिए, मेरे प्राण को तृप्त कीजिए, मेरे नेत्रों को तृप्त कीजिए। मेरी आत्मा एवं प्रजाओं को तृप्त कीजिए। मेरे वन्धुओं और भृत्यों को तृप्त कीजिए।" अपने आराध्य की प्रकाशमयी अनुभूति की तन्मयता में बार-बार महर्षि ने प्रणति पुष्प अर्पित कर कृतार्थता का अनुभव किया है—

नमः शंभवाय च मयो भवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च। (यजु० १६।४१)

"सांसारिक सुख के प्रवाह के लिए नमस्कार है। मोक्षसुख के प्रवाह के लिए भी नमस्कार है। शान्ति-सुख के दाता के लिए नमस्कार है। कल्याण स्वरूप के लिए नमस्कार है। परम कल्याण स्वरूप के लिए नमस्कार है।

जीवन के काल-प्रवाह के प्रति हमारे ऋषि अनास्थाशील नहीं हैं।" अपनी भक्ति भावना की तन्मयता में इन्होंने लिखा है कि :—

नमः सायं नमः प्रातः नमो रात्र्या नमोदिवा।
भवाय च शर्वाय च उभाभ्यां अकरं नमः। (अथर्व ११।१।१६)

"सन्ध्या समय में नमस्कार है। प्रातःकाल में नमस्कार है। रात्रि में नमस्कार है, जगत के उत्पादक तथा संहारक के लिए दोनों हाथों से नमस्कार करता हूँ।"

परम-भक्त रूप में महर्षि ने अपनी नमः स्तुति पितृगणों के लिए भी अर्पित की है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों में महर्षि ने अपनी अन्तरात्मा की भावुकता का पूर्ण परिचय दिया है:—"हे पितृगण! शत्रुओं के बल को शुष्क करने के लिए आपको नमस्कार है। सुन्दर जीवन के लिए आपको नमस्कार है। हे पितृगण, स्वधा के लिए, अतिथियों के सत्कार योग्य प्रभूत अन्न के लिए आपको नमस्कार है।" प्रत्यक्ष देव के रूप में सूर्य को महर्षि ने ब्रह्म कहा है और जीवन की अमृतमयता के लिए इस प्रकार प्रार्थना की है—"वह सूर्य ही ब्रह्म है, जो प्रतिदिन पूर्व दिशा से प्रकट होता है। हे सूर्यदेव हमें अमृत दीजिए, जिससे मृत्यु दूर चली जाय। इन सब स्त्री पुरुषों की वृद्धावस्था तक रक्षा कीजिए? इनके प्राण वृद्धावस्था से पहले यमराज को न प्राप्त हों।"

इस प्रकार वेदों में भक्ति-भावना का अविरल स्रोत बहते हुए प्राप्त होता है, जिसके द्वारा व्यक्ति-मंगल तथा लोक-मंगल का मार्ग आराध्य ऋषियों ने प्रशस्त किया है, इसलिए अपने आराध्य आदर्श को सामाजिक शासनशक्ति से पूर्णतया समन्वित रूपमें ही आर्य ऋषियों ने देखा है। जिस प्रकार ऋषि ने अपने आराध्य वरुण को राजा के रूप में देखा है। उसी प्रकार इन्द्र को भी सभी देव शक्तियों में राजकीय वैभव की पूर्णता का दर्शन करने वाले के मान्य पद से विभूषित किया है—

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा। (ऋ० २।२७।२०)
तम् राजा इन्द्रः ये च देवाः। (ऋ० १।१७७।१)

आराध्य-शक्ति की प्रभावानुभूति के अनन्य-विश्तास का आधार भक्ति है, इसी की तन्मयता में औपनिषद-महर्षियों ने अपनी अनुभूतियों की व्यंजनायें की हैं। सत्यधर्म-दर्शन के लिए उनमें अपूर्व आकुलता दिखाई पड़ती है। वे अपने आराध्य से कहते है।—

हिरण्मयेन पात्रेण, सत्यस्य अपिहितम् मुखम्।
तत् त्वं पूषन्! अपावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये।

"सुवर्णमय पात्र से सत्यस्वरूप आपका मुख आवृत है। हे पोषकदेव! मुझ सत्यपरायण के दर्शन के लिए उसे उठा दीजिए। शुभ कर्ममयपथ के बाधक तत्वों से मुक्ति के लिए माहात्म्य भावमय महर्षि में बड़ी उत्सुकता है, सांसारिक वैभव के साथ लोक-मंगल कारिणी भावुकता का प्रभविष्णु स्वर यहाँ सुनाई दे रहा हैं—हे जगद्गुरो! आप हमें ऐहिक तथा पारलौकिक आनन्दरूप धन के लिए मंगलमय मार्ग से ले चलें, हे सर्वान्तर्यामिन् प्रकाशमय आप हमारी सब प्रकार की ज्ञानराशि के ज्ञाता हैं। हमसे कुटिल पाप को दूर कीजिए। हम बहु नमस्कार की वाणी आपकी सेवा में भेंट करते हैं अर्थात् स्तुति-परक प्रणति बार-बार सेवार्पित करते हैं। यह संस्तुतिपूर्ण प्रणति ही भक्ति की विनयशीलता का मूल लक्ष्य है, जिसके द्वारा मनुष्य परम्परागत आदर्श की उपासना में कृतार्थता का अनुभव करता है। इसी से सामाजिक-राजनीति को प्रतिष्ठा मिलती है, इस विनय-मूलक व्यावहारिकशील के द्वारा ही वैधानिक आदर्श को सप्राण अप्रतिम ज्योति प्राप्त होती है। हीनता एवं महनीयता दोनों की चिरन्तन अनुभूति का समन्वय भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। साधना-शील प्राण में इस प्रकार के विश्वास का अविर्भाव होता है। हम परिपक्व बुद्धि के प्राणी हैं। आप प्राचीन एवं बुद्धिमान हैं, हमारी शक्ति कहाँ? कि हक आपकी स्तुति कर सकें, किन्तु समय-समय पर आप हमें उपदेश देते हैं, इसलिइ आपकी स्तुति कुछ कुछ कर सकते हैं। इस प्रकार विनय तथा भावुकता के बहुशः प्रसंगों में भक्ति भावना का हृदयस्पर्शी परिचय प्राप्त होता है।

वैदिक तथ्य-दर्शन—

अर्थ-मोह की दुरन्त-भोग-लिप्सा के क्रूरतर उन्माद को आज के अर्थ-शास्त्री यान्त्रिक सभ्यता के विकास के साथ मानते हैं। पर भारतीय ऋषि ने मानव स्वभाव की इसे सहज प्रवृत्ति माना है। ऋषि के यथार्थ-दर्शन का यह स्वर सुनिए:—

एकपाद्भूयो द्विपदो विचक्रेद्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तिरुपतिष्ठमानः।
ऋ० ६।१०।११७।८

जिसके पास एक अंश सम्पत्ति है, वह दो अंश सम्पत्ति के अधिकारी से याचना करता है, जिसके पास दो अंश है, वह तीन-वाले के पास जाता है। इसी प्रकार क्रमशः अर्थ-प्राप्ति की प्रबल तृष्णा मानवीय व्यापार-जगत का प्रवर्त्तन करती रहती है। परम्परा प्राप्त अधिकारोन्माद की यह उपासाना पद्धति नितान्त-घृणित है, भारतीय ऋषि का शिशु हृदय पूँजीवाद की इस आदर्श-हीन अन्ध-परम्परा को सहन नहीं कर सका है। वस्तुतः उसके स्वरों में यथार्थ के अभि-शाप की अग्नि प्रज्वलित हो उठी है। पारिवारिक अथवा आधिकारिक परम्परा से मिली हुयी सम्पत्ति का निष्क्रिय उपभोग करने वालों को ऋषि ने पापस्वरूप कहा है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।
ऋ० १०।११७।६

"अप्रबुद्ध, आलसी मनुष्य व्यर्थ ही सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। मैं सत्य कहता हूँ, यह (संचित पूँजी का उपभोग) उनकी मृत्यु है। गौरवशील अतिथि एवं मित्र को जो संतुष्ट नहीं करते हैं, वे अपने ही उपभोग में बेसुध रहने वाले पाप स्वरूप हैं। अधिक खाने वालों की भी मृत्यु होती है और सम्पत्ति का दान करने वालों के यश की विभूति अक्षय होती है, ऋषि के इस यथार्थानुभव की ध्वनि इस प्रकार श्रुति गोचर होती है—

य आध्राय चकमानाय पित्वो अन्नवान्सन्रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरातोचित् स मर्डितारं न विन्दते।
ऋ० ६। १०। ११७। २

जिस समय कोई भूखा मनुष्य भीख माँगने के लिए उपस्थित होता है, उस समय जो अन्नवाला होकर भी हृदय को निष्ठुर रखता है, उसे कोई सुख नहीं मिल सकता है। अर्थ-पति समुदाय की प्रबुद्धता के लिए इस भाव के अनेक मंत्रों का वैदिक ऋषियों ने साक्षात्कार कराया है, क्योंकि जन-शक्ति के शोषण द्वारा अर्थ संचय कर सन्तान-परम्परा के निर्बाध विविध भोग की आशा भ्रान्तिमात्र है, इस सम्बन्ध में ऋषि ने अपना अनुभव इस प्रकार प्रकट किया है—

हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्राः, अन्यम् अन्यम् उपतिष्ठन्ति रायः।
ऋ० १०। ११७। ५।

निश्चित रूप से धन का वैभव रथ के पहिये की तरह स्थान बदल कर एक के पास से दूसरे के पास पहुँचता रहता है। इसलिए जो पूँजीपति बाल-बुद्धिवश अर्थाधिकार भोग की परिवर्तनशीलता को विस्मृत कर परलोक के-अस्तित्व को भूल जाते हैं। उनके लिए औपनिषद ऋषि की दृष्टि में भारत के अप्रतिम नियन्ता यमराज का यह अकाट्य विधान है:—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं, प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे (कठो०)

जो अर्थाधिकार के अभिमान से पागल तथा आलसी हैं। उन बाल-बुद्धि अनभिज्ञों को परलोक के अस्तित्व का विश्वास नहीं होता है। भोग का यही लोक

है, दूसरा-नहीं, ऐसा समझने वाले ये अल्पज्ञ-जन बार-बार मेरे कठोर-नियंत्रण की यातना सहते हैं। इन मोहान्धबर्बर जनों के लिए—ह्रियादेयम्, भियादेयम्, संविदा देयम् का उद्बोधन अनेक बार वैदिक ऋषियों ने किया है। क्योंकि उनकी दृष्टि में सृष्टि के अन्य-प्राणी चाहे वे देवता हों, या पशु, स्रष्टा के नियम का कदापि उलंघन नहीं करते हैं, केवल मनुष्य ही ऐसे होते हैं, जो स्रष्टा के अनुशासन को भंग कर नितान्त घृणित आसुरी परिणति का परिचय देते हैं। इसलिए भोगोन्माद की आसुरी प्रवृत्ति का आतंक स्वरूप मनुष्य ही है। उससे निरापद रखने के लिए राष्ट्रीय-ऐश्वर्य के विश्वास रूप इन्द्र से ऋषि ने बार-बार प्रार्थना की है, उनकी इन प्रार्थना ध्वनियों में राष्ट्र के दुश्शासन की दुर्विनीतता के प्रति जो प्रतिक्रियात्मक योग के लिए रोषावेश है, सामाजिक जीवन की यथार्थ रीति-नीति का परिचय उससे अच्छी तरह प्राप्त हो जाता है, उदाहरण के लिए इन मंत्र-ध्वनियों के अभिशाप की ज्वाला द्रष्टव्य है: —

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्मा अभिदासत्यधरं गमया तमः।
विरक्षो विमृधो जहि विवृत्रस्य हनू रुजः। (साम० ६।३७)

वैदिक-ऋषि की इन अभिशाप की ध्वनियों में मानव-प्रकृति के सहज दुर्विनीतना-जन्य आसुरी उन्माद से त्राण के लिए राष्ट्र की सैनिक शक्ति के सेनापति से प्रतिक्रियात्मक उग्रता के लिए सबल निवेदन है। किसी भी राष्ट्र के विचारकों की वाणी में राष्ट्रीय जीवन प्रवाह के सार्वजनीन सुष्ठु नियमन के लिए जब तक यह अभिशाप का स्वर अथवा व्यक्ति-मात्र के लिए उन्मुक्त आत्म-गौरव साधना का सप्राण-संकल्प प्रकट करने की शक्ति रहती है। तभी तक उसके भावी अभ्युदय के पूर्ण संकल्प की आशा की जा सकती है। जब आतंक-वादी पूँजीपति-समुदाय से दबे हुए विचारकजन सहिष्णुता और अशक्त वैराग्य का स्वर भर कर शोषित समुदाय के मंगल को भूल जाते हैं, तब बुद्धि-जीवियों का मूल्य कुछ पैसों में परिणत होकर अपने अपरिमित आकर्षण को खो देता है। इस तथ्य को बुद्ध, महावीर एवं कालिदास से लेकर आज तक

के विचारकों के इतिहास तथा साहित्य में पक्षपातरहित दृष्टि से अच्छी तरह देखा जा सकता है। इसलिए बुद्धिजीवियों के भी पतन को नितान्त स्वाभाविक समझ कर ऋषियों ने मानवीय आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए जहाँ "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" का विविध स्वरों में गम्भीर उद्घोष किया है, वहीं यथार्थ की पृष्ट-भूमि पर उन्हें यह भी स्वीकार करते हम देखते हैं कि:—

"असदं वै इदम् अग्रे आसीत्, ततो वै सद् अजायत।

असत् ही सब पहले था, उसी से भाव-रूप जगत उत्पन्न हुआ। इसलिए वैदिक ऋषि भावुक होकर सृष्टि की असत्प्रतिक्रियाओं से निरपेक्ष नहीं हैं, किन्तु उनके यथार्थानुभव के प्रति पूर्ण-प्रबुद्ध दिखाई पड़ते हैं। वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं, कि जो ज्ञान से भिन्न केवल कर्म की उपासना करते हैं, वे गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं, उनसे भी अधिक अन्धकार में वे जाते हैं, जो आत्मा और आत्मीयता के सूक्ष्म-सौन्दर्य-चिन्तन में ही निमग्न रहते हैं। जो विद्या और अविद्या दोनों का यथार्थानुभव प्राप्त करते हैं, वे अविद्या (साधनात्मक) श्रम से मृत्यु को पारकर ज्ञान के द्वारा अमृत का उपभोग करते हैं। वे गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो आत्मा और आत्मीयता से भिन्न केवल ज्ञाति और धन के क्षुद्रतर-ऐश्वर्य की उपासना करते हैं। उनसे भी गम्भीर अन्धकार में वे पड़ते हैं, जो निरन्तर आत्मा और आत्मीयता की पूर्णता के साक्षात्कार में हीं तन्मय रहते हैं।

श्रुति की इन ध्वनियों से भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की पूर्ण प्रकर्षानुभूति के लिए प्रबुद्ध संकल्प का स्पष्ट परिचय मिल रहा है। किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक-निष्ठा एवं व्यावहारिक दुर्विनीतता का प्रकर्षोन्मुख पूर्ण समन्वय इसके बिना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। जिस प्रकार स्थूल-जगत् की व्यावहारिक विषमता का मूल कारण आर्थिक अधिकारोन्माद की सहज उदंडता है, उसी प्रकार सांस्कृतिक विश्वास की हीनता का मूल कारण कामोपभोग की तपस्तेज-शून्य उच्छृंखलता है। कामोपभोग की वासना का उन्माद नारी और पुरुष की सहज प्रवृत्ति है। नारी और पुरुष में कामोपभोग की वासना कितनी प्रबल है। इसका परिचय यम और यमी के संवाद से अच्छी तरह मिल जाता

है। मानव-समाज में व्यभिचार की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। ऋषि ने अनेक मंत्रों द्वारा इसकी ओर संकेत किया है।

सामाजिक जीवन की संस्कार शून्य दशा में यह व्यभिचार की प्रवृत्ति नितान्त क्रूर अधोगति के रूप में परिणत हो जाती है। आज देश के निरक्षर ही नहीं, साक्षर समाज में भी कितनी करुण हत्यायें इसके कारण हो रही हैं। प्रेमी पुरुष की भाँति प्रेमिका स्त्री के यौवनोन्माद की भी क्रूर तथा हीन परिणति के चित्र मिलते हैं। नारी अपनी सौत के सम्बन्ध में सोच रही है, कि जिस तरह वृक्ष से खिले हुए फूल तोड़ लिये जाते हैं, उसी प्रकार मैं उसके भाग्य और तेज को स्वयं धारण करती हूँ। असत्य की आत्मघातिनी प्रतिक्रिया से जब लोक हृदय उद्विग्न हो जाता है, तब लोकद्रष्टा महर्षि का हृदय नियामिका शक्ति से इस प्रकार निवेदन करने के लिए विवश हो जाता है—

शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं, मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा, कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः।

(अथर्ववेद)

जीवन की इस हीनता अथवा विरोध की दशा का यथार्थ चित्र अंकित करते हुए भी वैदिक ऋषियों ने पुण्योत्कर्ष के गौरव भाव को ही मुख्य स्थान दिया है। इनकी वाणी में व्यक्ति, समाज, राष्ट्र के सनातन मंगल की ही व्यंजना हुयी है। व्यक्ति के सामाजिक कर्त्तव्य के लिए उद्बोधन का यह कितना मार्मिक स्वर है:—

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वं संजानानाः उपासते।

राष्ट्रीय गौरव के लिए वैदिक ऋषि की कल्पना सर्वजन सुखद यथार्थ-रूप में दिखाई देती है:—

आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आ राष्ट्रे राजन्य, शूरः इषव्यो अतिव्याधी महारथो जायताम्, दोग्ध्री धेनुः, वोढा अनड्वान्, आशुः सप्तिः पुरंधिः योषाः, जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवा अस्य यजमानस्य वीरो जायताम्।

(तै० सं० ७।५।१८) (यजु० २२।२२)

हे ब्रह्मन्। (सबसे बड़े देव!) हमारे देश में ब्राह्मण वेदादि समस्त विद्याओं से देदीप्यमान उत्पन्न हों। क्षत्रिय पराक्रमी अस्त्र-शस्त्र चलाने में निपुण, शत्रुओं को अत्यन्त पीड़ित करने वाले तथा हजारों से अकेले युद्ध करने वाले पैदा हों, गायें दूध देने वाली, बैल बोझा ढोने वाले, घोड़े शीघ्र चलने वाले तथा स्त्रियाँ अत्यन्त बुद्धिमती उत्पन्न हों। प्रत्येक मनुष्य विजयी, रथ में बैठने वाला तथा सभा व्यवहार कुशल हो। इस यज्ञकर्त्ता के घर में विद्या-यौवन-सम्पन्न तथा शत्रुओं को ध्वस्त करने वाले पुत्र उत्पन्न हों। हमारे देश में मेघ आवश्यकतानुसार जल वृष्टि करें, तथा जौ, गेहूँ आदि ओषधियाँ फलवती होकर परिपक्व हों। प्रत्येक मनुष्य का योग और क्षेम उसके उपभोग के लिए पर्यात हो।

भौतिक जीवन को इन आवश्यक तत्वों पर विचार करते हुए पूज्य ऋषियों का ध्यान पूर्ण अभयत्व प्राप्ति की ओर ही दिखाई देता है। इसीलिए उनकी वाणी में सामयिक यथार्थ के ऊपर सनातन यथार्थ के प्रभाव की ही व्यंजना हुयी है—

अभयं पश्चाद् अभयं पुरस्तात्, उत्तराद् अधरात् अभयं नो अस्तु।

सर्वत्र अभय संकल्प की लोक मंगल भावना का संकेत भारतीय वैदिक साधना का लक्ष्य रहा है, मानवीयशील, संकल्प की अमृत-कल्पना का अविजेय स्वर इनकी तपः निष्ठा का परिचायक है।

वैदिक रहस्यानुभूति

किसी भी राष्ट्र की सामाजिक संस्कृति की सप्राणता अथवा समन्वयशीलता के लिए व्यष्टिगतचेतना में समष्टिगत आकर्षण की गौरवानुभूति नितान्त अपेक्षित होती है। इसके बिना न तो जड़, चेतन के सांस्कारिक अधिकारोन्माद का संघर्ष ही दूर हो सकता है और न अल्पज्ञता के क्षयोन्मुख अन्धकार प्रसार को अनुशासित रखनेवाली विशेषता के सर्जनोन्मुख प्रकाश की महिमामयी विशेषता ही आ सकती है। इन्द्रियों की बहिर्मुखता के कारण जड़ोन्माद की अधिकार

जन्य क्रूरता अथवा प्रसुति भी स्वाभाविक है। इसलिए व्यक्ति-जीवन में पूर्णता के बोधमय शील संचार के बिना सामाजिक सुस्थिति के लिए वैधानिक एवं शास्त्रीय-अनुशासन की चाहे जैसी भी प्रतिष्ठा की जाये, कदापि स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकती है। इसी कारण विश्व के समस्त राष्ट्रों में समष्टिगत चेतना की जैसी निर्बन्ध रहस्यानुभूति की तन्मयता मिलती है, वैसा ही उनकी सामाजिक चेतना के इतिहास में माधुर्य-समन्वय का वैधानिक स्थायित्व भी मिलता है।

माधुर्य की इस उदार समन्वयोन्मुखता की दृष्टि से भारत की सामाजिक चेतना का इतिहास जितना ही मधुर है, व्यक्ति चेतना का इतिहास उतना ही निर्बन्ध, तेजस्वी तथा गम्भीर है। इसलिए भारत में व्यक्तिनिष्ठा के साथ समष्टिचेतना का सामंजस्य जितना गौरवपूर्ण, ज्योतिर्मय, सप्राण तथा रूपात्मक जगत-सापेक्ष्य है, उतना ही निर्बन्ध, शून्योपम, अकल तथा रूपात्मक जगत निरपेक्ष्य भी है। भारत के तपः स्वाध्याय-शील मनीषियों का यह उन्मुक्त समन्वयात्मक प्रत्यक्ष जड़ोन्माद से वेसुध होकर प्रतिक्षण परस्पर संघर्ष की चुनौती देनेवाले संसार के सभ्यताभिमानी राष्ट्रों के लिए भविष्य में नितान्त गौरवपूर्ण दान सिद्ध होगा।

व्यष्टि में समष्टि चेतना के अभेद सामंजस्य की रहस्यमयी-ध्वनि के गायक कवि की पवित्र साधना एवं शक्ति का गौरव गान परम पूज्य वैदिक ऋषियों ने विनयान्वित हो बहुशः मंत्र गीतों में गाया है, जैसे कर्त्ता में ही ऋषियों को उनकी कृति की रहस्यात्मक अभेदानुभूति हुई हो। इसलिए ऋषि ने कभी सोम के रूप में कवि का अभिनन्दन किया है और कभी अग्नि के रूप में :—

अभि प्रिया दिवः कविर्विप्रः स धारया सुतः।
सोमो हिन्वे परावति। (प्र० ५।१।४ सामवेद)

अग्ने तव श्रवो वयोमहि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुकथ्यां दधासि दाशुषे कवे।
(९।२।१। सामवेद)

ज्ञान सम्पन्न, मेधावी वह सोम रूपी कवि अपनी धारणाशक्ति से सूर्य के समान ज्योतिर्मय लोकों में बिहार करता है। अपने विशेष प्रकार से सर्वत्र बसने

तथा सबको बसाने वाले हे सर्वव्यापक ! आपकी कीर्ति तथा परिज्ञान-शक्ति महान् है, आपकी ज्वालायें सर्वत्र प्रकाशित हो रही हैं। जिस प्रकार कवि के सम्बन्ध में वैदिक ऋषि की वाणी स्तुति-परक मिलती है, उसी प्रकार काव्य को भी रहस्यमयी ध्वनि मानकर इन्होंने मुक्तकंठ गौरव गान गाया है—

पवमाना असृक्षत सोमा शुक्रास इन्दवः।
अभि विश्वानि का काव्या। (प्र० ८।२।१६। सामवेद)

इससे स्पष्ट है, कि ऋषियों ने कवि को ऋषि से अभिन्न ही नहीं माना है, किन्तु कवि को ऋषि की अपेक्षा अधिक गौरव दिया है। इस श्रुतिमत की अनुकूलता रखने वाले पूज्यास्पद द्रष्टा और स्रष्टा ही कवि का गौरव प्राप्त करते हैं। इस तथ्य को आचार्य मम्मट के गुरुदेव आचार्य भट्टतोत ने भी स्पष्ट किया है :—

नानृषिः काव्य कर्त्ता स्यात् ऋषिश्च किल दर्शनात्।
दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढाः लोके कविश्रुतिः।

इन आचार्य के मत से कवि के लिए दर्शन और वर्णन की सामंजस्य-शक्ति का प्रत्यक्ष नितान्त आवश्यक है। शब्द ब्रह्म की परा, पश्यन्ती और मध्यमा प्रकृति की ज्योतिस्सत्ता के साक्षात्कार को बैखरी की परिणति देने में जो कवि जितना ही सफल होता है, उसकी वर्णना-ध्वनि उतनी ही मंद्र-मधुर गम्भीर तथा सप्राण लोकोत्तर चमत्कार-संचारिका होती है। मुक्त-ब्रह्म की रहस्यमयी अनुभूति में तन्मय रहने वाले ऐसे ही अमर स्रष्टा क्रान्तिदर्शी महाकवियों के सम्बन्ध में पूज्यतमा श्रुति का यह संकेत है—

प्रकवि देव वीतये अव्यावारेभिरव्यत,
साह्वान् विश्वा अभिस्पृधः। (३।२।४। सामवेद)

कवि मंगल-कारिणी विद्या की साधना से समन्वित रहता है। महर्षि कवि की इस रहस्यममयी चेतना से सामंजस्य करने में आलोचकों की अन्धनिष्ठा के प्रति श्रुति ने मर्मस्पर्शी व्यंग्य किया है। आज ही नहीं प्राचीन काल में भी रहस्यमयी मंत्रसृष्टि शकुन्तला को शाप देने वाले दुर्वासा आलोचकों की कमी

नहीं थी। ऐसे हृदय शून्य रूढ़िवादी आलोचकों के सम्बन्ध में यह कहना बिल्कुल ठीक है कि :—

न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः।

निर्विकल्प समाधि की तन्मयता में जिस करण-कारण निरपेक्ष ज्योति का महर्षि-कवियों ने प्रत्यक्ष किया है, उसके अनिर्वच आकर्षण से साधनाशील भावुक जनों में पूर्णतया माधुर्य दीप्ति भरने के लिए लोक-जीवन के सामान्य अभिव्यक्ति स्रोत अथवा सम्बन्धानुभूति के साथ उसका सामंजस्य भी किया है। अभिव्यक्ति परम्परा के वैचित्र्य के सम्बन्ध में महामुनि यास्क ने जो परिचय दिया है, वह नितान्त सारगर्भ है। लोकरुचि में भावुकता प्रायः तीन प्रकार से देखी जाती है, प्राथमिक स्थिति यह है कि जब जन-जीवन में आर्थिक विषमता का अन्धकार दूर हो जाता है, पर राष्ट्र के युगान्तर ऐतिहासिक प्रवर्त्तनों के प्रति जनता में पूज्यनिष्ठा मौजूद रहती है। ऐसे समय जन-जीवन में सप्राण सामंजस्य के गरिमामय शाश्वत् आकर्षणों का साक्षात्कार कराया है। चिन्तन के इन शाश्वत् सत्यों की रहस्यध्वनियों में अनुपम प्रभविष्णुता मिलती है। इनके साक्षात्कार की ऐतिहासिक परम्परा के अनुशीलन से ही भारतीय मनस्वियों के प्रतिभा-चमत्कार का परिचय पाया जा सकता है।

सर्वथा निःसंग ब्रह्म ही समस्त जागतिक प्रपञ्चों का निमित्त एवं उपादान कारण है, इसलिए उसकी कलातीत-चिरन्तन ज्योतिस्सत्ता की अनुभूति मानवीय व्यापारों के आरोप द्वारा जब प्रत्यक्ष कर्त्ता की तन्मयता अभिव्यक्ति पाती है, तो उसमें अपूर्व मर्मस्पर्शिता मिलती हैं। जीवन के असीम-प्रवाह में महदाकर्षण का निर्वन्ध गौरव संकल्प भरदे वाली ये ध्वनियाँ आज के जड़ावर्त्त के चमत्कारों में ही बेसुध मानव की तन्मयता चाहे न प्राप्त कर सकें, किन्तु विज्ञान की दीप्ति से प्रबुद्धता की प्रतियोगिता में सक्रियसंकल्प मानव जब बाहर के साथ ही सूक्ष्म-चेतन के अनिर्वच चमत्कारों को भी स्वाध्याय और अनुभव की आँखों से देखेगा, तभी राष्ट्रीयता के क्षुद्रतर तथा आत्मघातक उन्माद से मुक्त हो वैज्ञानिक दुरुपयोग के नियमन में भी समर्थ होगा। उस समय प्रत्येक

व्यक्ति की क्रियाशीलता में निश्छल तन्मयता का सप्राण ओज भर देने वाली ये साधनात्मक प्रत्यक्ष की ध्वनियाँ प्रत्येक राष्ट्र की अनुपम-विभूति होंगी। परोक्षकृत मंत्र-ध्वनि का यह साक्षात्कार दर्शनीय है :—

अपाणि पादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।

निर्बन्ध चेतना की इस गौरवानुभूति के साथ ऋषियों ने उसके शक्तिमय आतंक के प्रभाव को भी व्यक्त किया है :—

'भीषा अस्माद् वातः पवते, भीषा उदेति सूर्यः।
भीषा अस्माद् अग्निश्च इन्द्रश्च मृत्युः धावतिपंचमः।

शक्तिमय चेतन की इस लोक रक्षण कारिणी नियामकत्वानुभूति के साथ ही इसकी सृष्टि संहारकारिणी अतीन्द्रिय चमत्कृति की रहस्यानुभूति भी ध्वनित हुयी है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवतः ओदनः।
मृत्युः यस्पोपसेचनं कः इत्था वेद यत्र सः।

इस अनिर्वच सत्य की प्रतीति के पश्चात् जब ऋषि साधनामयी अनुभूति की तन्मयता में इसका प्रत्यक्ष करते हैं, तब स्वभावतः उनकी वैखरी का स्वर गूँजने लगता है। अपने इस अनुभूतिमय विश्वास को स्पष्ट करते हुये ऋषि ने लिखा है :—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वा अति मृत्युम् एति, न अन्यः पंथा विद्यते अयनाय।

(यजु० ३१।१८)

सत्य के पूर्ण प्रत्यक्ष के बाद मर्मद्रष्टा की उससे अभेद सामंजस्य की पूर्णता प्राप्त हो जाती है और वह परम कारण स्वरूप परम महान् हो जाता है। ऐसी ही दशा में "अहं ब्रह्माऽस्मि" की आध्यात्मिक अनुभूति का स्वर झंकृत होने लगता है :—

अहं भूमिम अददाम, आर्याय, अहं वृष्टि दाशुषे मर्त्याय।
अहम् अपो अनयं वावशानाः, मम देवासो अनुकेतुम् आयन्।
(ऋ० ४।२६।३)

इस प्रकार अहम् शक्ति के पूर्ण दर्शन के पश्चात् सर्वत्र अहम् का प्रकाश प्रत्यक्ष होने लगता है :—

अहं परस्तात् अहं अवस्तात् यदन्तरिक्षः। (यजु०)

इस साधनात्मक निर्बन्धता तथा संकल्पात्मक तन्मयता के कारण आर्य ऋषियों की साक्षात्कार ध्वनियों में अक्षर तथा वाग् श्रुति का महिमामय मञ्जुल समन्वय हुआ है। अक्षरश्रुति की रहस्यानुभूति जीवन की व्यावहारिक सीमा में ही नहीं हुई है, बल्कि अक्षर श्रुति में ही संसार के सर्जन, संरक्षण और प्रलय की सनातन लीला का प्रत्यक्ष भी इन्हें हुआ है :—

सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।

अक्षर-श्रुति के इस रहस्य दर्शन के कारण ही भारतीय कवियों ने विश्व-वाङ्मय् को परमाराध्य श्रुति के अक्षाय-गौरव का संदेश दिया है। वस्तुस्थिति में अक्षर श्रुति के रहस्यात्मक आकर्षण के बिना किसी देश अथवा राष्ट्र में आदर्शात्मक गौरव का स्वप्न खपुष्पवत् है।

अक्षर-श्रुति की रहस्यात्मकता अपनी महिमामयी परिणति में वाग् श्रुति की प्रभविष्णुता प्राप्त करती है। इसी की रहस्यात्मकता से युग-युग की विरुद्धदिशा-गामिनी चिन्ता धाराओं में गौरवपूर्ण सामंजस्य होता है। वागश्रुति ही किसी भी महापुरुष की साधना की चरम विभूति होती है। इसकी उपेक्षा कर कोई उन्नत से उन्नत राष्ट्र भी अपने भविष्य को मृत्यु का शिकार बना सकता है। क्योंकि किसी आप्त महामानव की वाग्श्रुति की अनुभूत्यात्मक साधना ही सहृदय साधकों की उपासना होती है। इसीलिए भारत के अतीन्द्रिय द्रष्टा ऋषियों ने वाग्श्रुति के रहस्य प्रभाव की गम्भीर अनुभूति कराई है :—

स्तुता मया वरदा वेदमाता, प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वाव्रजत ब्रह्मलोकम् ।
(अथर्व० १९।७१।१)

जिस वाणी का मंत्रद्रष्टा मनीषियों ने साक्षात्कार किया है, विद्वानों ने तप और श्रम से जिसको प्राप्त किया है, वह भारतीय मनीषा की अद्भुत वनस्थली है। वाणी की यह वन्दनीयता ही व्यक्ति, परिवार, तथा समाज की वन्दनीयता का मूल कारण है, किन्तु वाग्श्रुति की रहस्यानुभूति सर्वसुलभ नहीं, साधना-सापेक्ष्य है।

आदिकाव्य में राजनैतिक-दर्शन

राजशक्ति-महत्त्व

महाराज दशरथ के दिवंगत होने पर रामचन्द्र को वन में आ जाने तथा भरत को ननिहाल में रहने के कारण अयोध्या में जो अराजकता की स्थिति उत्पन्न हुई। उस पर विचार करते हुए मन्त्रियों ने महर्षि वशिष्ठ से इस प्रकार निवेदन किया:—इक्ष्वाकु वंशियों का कोई आज ही राजा बनाना चाहिए, क्योंकि हम लोगों का यह राष्ट्र राजा के न रहने से नष्ट हो जाएगा। राजहीन देश में घोर गर्जन करने वाला विद्युन्माली नाम का मेघ पृथ्वी पर दिव्य जल नहीं बरसता। राजहीन देश में खेत नहीं बोये जा सकते। राजहीन देश में पिता के अधीन पुत्र और पति के अधीन स्त्री नहीं रहती। राजहीन देश में अपना धन, धन नहीं है, अपनी स्त्री, स्त्री नहीं है, यह बड़े भय की बात है, फिर उस देश में सत्य कैसे रह सकता है। राजहीन देश में निर्णय के लिए मनुष्य पञ्चायत नहीं कर सकते, निश्चिन्त होकर सुन्दर बाग तथा फुलवाड़ी नहीं लगा सकते। राजहीन देश में सायंकाल कन्याएँ सुवर्ण के भूषण पहन कर खेलने के लिए नहीं जातीं, राजहीन देश में धनी लोग जो कृषि और जो रक्षा से जीते हैं, सुरक्षित नहीं रहते, वे द्वार खोल कर रात को अपने घरों में नहीं सो सकते। राजहीन देश में बहुत दूर जाने वाले बनिये बेचने की बहुत सी वस्तु लेकर कुशलपूर्वक मार्ग में नहीं जा सकते। अराजक देश में सेना शत्रुओं का सामना नहीं कर सकती। बिना जल की नदियाँ, बिना घास का बन और बिना गोपाल की गौ जैसी होती है, वैसा ही राजहीन राष्ट्र होता है। राजहीन राष्ट्र में मनुष्य का कुछ भी अपना नहीं होता। मछलियों के समान मनुष्य

परस्पर खा जाते हैं। राजा सत्य है, धर्म है, कुलवानों का कुल है, माता-पिता तथा मनुष्यों का हितकारी है। साधु, असाधु अच्छे या बुरे का विभाग करने वाला राजा यदि लोक में न होता, तो अन्धकार युक्त दिन के समान कुछ भी न ज्ञात होता। २।६७।८,९,१०,११,१२,१७,१८,३१,३४,३६

वनवास में भरत से मिलने पर रामचन्द्र ने जो कुशल पूछा है, उसके द्वारा व्यावहारिक-राजनीति पर समुचित प्रकाश पड़ता है। दृष्टान्त के लिए कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं - अपने समान विश्वसनीय शूर, विद्वान्, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा संकेतज्ञ को अपना मंत्री बनाया है न? मंत्र राजाओं की विजय का मूल है, इसी कारण शास्त्र और मंत्र को जानने वाले मन्त्री राजा की रक्षा करते हैं। बहुत सोते तो नहीं हो, समय पर उठ तो जाते हो, रात के पिछले पहर में कामों की सिद्धि का उपाय तो सोचते हो। किसी बात का निश्चय अकेले तो नहीं करते अथवा बहुत आदमियों के साथ तो नहीं करते? तुम्हारा निश्चित किया हुआ अर्थ लोगों को मालूम तो नहीं हो जाता? जो उपाय तुम निश्चित करते हो और जो छोटा होने पर बहुत बड़े फल को उत्पन्न करने वाला होता है, उसका प्रारंभ तुम शीघ्र ही करते हो न, बिलम्ब तो नहीं करते? सामन्त राजा तुम्हारे निश्चित समस्त कार्यों को सिद्ध होने पर या सिद्ध होने के कुछ पहले जानते हैं न। कभी ऐसा तो नहीं हो जाता, कि तुम जो कार्य करना चाहते हो, उसका ज्ञान राजाओं को हो जाता हो। हजारों मूर्खों को छोड़ कर एक पण्डित को रखना तुम पसन्द करते हो न। क्योंकि संकट के समय पण्डित से बहुत बड़ा कल्याण होता है। तुम्हारे उग्र दण्ड से उद्विग्न होकर, प्रजा और मंत्री तुम्हारा तिरस्कार तो नहीं करते? जो राजा साम आदि उपायों के करने में निपुण, आप्तभृत्यों को भड़काने में लगे हुए शूर तथा धन चाहने वाले वैद्य का वध नहीं करता है, वह स्वयं मारा जाता है। तुमने जिसको सेनापति बनाया है, वह तुमसे प्रसन्न तो है, शूर, वीर धीर और बुद्धिमान् तो है, कुलीन, तुम में प्रेम रखने वाला और दक्ष तो है? तुम्हारी सेना के मुख्य योधा बली हैं न? उनकी वीरता की परीक्षा करली गई है न? वे विक्रमी हैं और उनका तुम

सत्कार तो करते हो ? सेना को उचित भोजन और प्रतिमास वेतन देना चाहिए, तुम देते हो न, बिलम्ब तो नहीं करते, तुम्हारे कुल के प्रधान मनुष्य तुम पर अनुराग रखते और तुम्हारे कार्मों के लिए सावधान हो कर प्राण त्याग करने के लिए उद्यत रहते हैं न। भरत, अपने राज्य में रहने वाले, समर्थ, प्रत्युत्पन्न-मति और जैसा कहा जाय वैसा ही करने वाले पण्डित को तुमने अपना दूत बनाया हैं न ? अतः परस्पर तथा दूसरे के द्वारा अज्ञात तीन-तीन गुप्त दूतों के द्वारा अपने राज्य के पन्द्रह तीर्थ तथा पर राज्य के अट्ठारह तीर्थों का ज्ञान रखते हो न। (१ मंत्री, २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति ५ द्वारपाल, ६ रनिवास का अध्यक्ष, ७ जेल का दारोगा, ८ खजाञ्ची ९ राजा की आज्ञा सुनाने वाला, १० वकील, ११ न्याय कर्त्ता १२. व्यवहार निर्णेता (जूरी) १३. सेना से वेतन पाने वाला दानाध्यक्ष, १४ ठीकेदार, १५ नगराध्यक्ष, १६. राष्ट्रान्तःपाल १७. दुष्टों को दण्ड देने वाला, १८ जलगिरि, वन, दुर्गस्थल पालक ये अट्ठारह तीर्थ हैं। मंत्री, पुरोहित और युवराज को अलग कर देने पर ये पन्द्रह बचते हैं। राजनीति में ये ही अट्ठारह और पन्द्रह तीर्थ कहे जाते हैं। हे रिपुसूदन, जिस शत्रु को तुमने निकाल दिया है और वह यदि तुम्हारे यहाँ पुनः चला आता है, तो दुर्बल समझ कर तुम उसकी उपेक्षा तो नहीं करते, नास्तिक ब्राह्मणों का साथ तो तुम नहीं करते ? ये अज्ञानी हैं, पर अपने को पण्डित समझते हैं। इनसे बहुत सी बुराई होती है। ये वैदिक मार्ग से उलटे चलने वाले, प्रामाणिक धर्मशास्त्रों के रहते हुए भी शुष्क तार्किक बुद्धि की सहायता से अर्थ हीन उपदेश करते हैं।

जिसमें सैकड़ों देवस्थान हैं, काफी बस्ती है, देवस्थान, पौसला और तालाब से जो शोभित है। जहाँ सभी पुरुप प्रसन्न हैं, जहाँ सभायें और उत्सव हुआ करते हैं, जहाँ अच्छी खेती होती है, जहाँ अधिक पशु हैं, जहाँ किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती, जहाँ के वासी अपनी खेती के लिए मेघ पर अवलंबित नहीं रहते, जहाँ हिंस पशु नहीं हैं, जहाँ किसी प्रकार का भय नहीं है, जहाँ खाने हैं, जहाँ पापी मनुष्य नहीं हैं, जिसकी रक्षा हमारे पूर्वजों ने की है,

वह सुन्दर राज्य-कोशल देश सुखी तो है। कृषि और गोरक्षा से जीने वाले वैश्य तुम्हारे प्रिय तो हैं? व्योपार में लगे हुए तुम्हारे राज्य के वासी सुखी तो हैं? उनके इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के द्वारा तुम उनका पालन तो करते हो, क्योंकि राज्य के समस्तवासियों का पालन करना राजा का धर्म है।

तुम अपनी स्त्रियों के अनुकूल रहते और उनकी रक्षा तो करते हो, उनकी बातों पर विश्वास तो नहीं करते? उनसे अपनी गुप्त बातें प्रकाशित तो नहीं करते? काम करने वाले अशंक होकर सदा तुम्हारे सामने तो नहीं होते अथवा वे कभी तुम्हारे सामने आते ही नहीं, इनके सम्बन्ध में मध्यम मार्ग ही अच्छा है। न तो ये अधिक पास रखे जाएँ और न बहुत दूर। तुम्हारे सब किले धन, धान्य, अस्त्र, जल, यन्त्र शिल्पी तथा धनुर्धारी वीरों से भरे तो हैं? तुम्हारी आमदनी तो अधिक है और खर्च कम, अपात्रों में तो तुम्हारा धन खर्च नहीं होता? सदाचारी साधु पर यदि कोई अपराध लगता है, तो शास्त्र ज्ञाता पुरुषों के द्वारा बिना विचार कराये ही लोभ से दण्डित तो नहीं कर दिया जाता? जो चोर पकड़ा गया है, पूछने से जिसके चोर होने का प्रमाण मिल गया है, जो चोरी करते देखा गया है अथवा जिसके पास चोरी का माल मिला है, ऐसा चोर तुम्हारे राज्य में छोड़ तो नहीं दिया जाता? धनी हो या गरीब, यदि किसी अपराध का अपराधी हो, तो तुम्हारे बहुश्रुत अमात्य धन के लोभ से रहित होकर उसका विचार करते हैं न? मिथ्या अपराधों के द्वारा दण्डित मनुष्यों के जो आँसू गिरते हैं, वे अपने भोग-विलास के लिए राज्य करने वाले राजा के पुत्र और पशुओं को नष्ट कर देते हैं।

धर्म को अर्थ से और अर्थ को धर्म से बाधित तो नहीं करते, अथवा काम से इन दोनों को बाधित तो नहीं करते? समय का विभाग करके अर्थ, धर्म और काम का यथा योग्य अनुष्ठान तो करते हो? राजा के चौदहों दोषों का तुमने त्याग तो किया है? नास्तिकता, असत्य बोलना, क्रोध करना, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, सज्जनों से न मिलना, आलस्य, इन्द्रियों के अधीन होना, अकेले राज्य की बातों का निश्चित करना, मूर्खों से सलाह लेना, निश्चित कार्यों को

प्रारम्भ न करना, गुप्त बातों को प्रकाशित करना, कार्यारम्भ से पहले मांगलिक कृत्यों को न करना, सब शत्रुओं पर एक ही बार चढ़ाई कर देना, राजाओं के ये चौदह दोष हैं। दसवर्ग, पञ्चवर्ग, सप्तवर्ग, चतुर्वर्ग, अष्टवर्ग और त्रिवर्ग तथा वार्त्ता, दण्डनीति एवं त्रयी इन विद्याओं की ओर तुम्हारा ध्यान तो है? बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों पर जय, सन्धि-विग्रह, यान, आसन, द्वैध, और आश्रय ये षड्गुण हैं, देवता तथा मनुष्य-सम्बन्धी आपत्तियाँ राजा के कर्त्तव्य, बीसवर्ग, शत्रु-राज्य पर आक्रमण अपराधी को दण्ड और सन्धि-विग्रह इनकी ओर तुम्हारा ध्यान है? पिता का जो व्यवहार है, अथवा हमारे प्रपितामह का जो व्यवहार था, उसी पर चलते हो न, क्योंकि वही सत्पथ और कल्याणकारी है। सुस्वाद भोजन अकेले तो नहीं खाते, अधिक प्रेम होने के कारण भोजन चाहने वाले मित्रों को भोजन तो देते हो न? इस प्रकार धर्मानुसार दण्ड-धारण करने वाला राजा प्रजा का पालन, तथा समस्त पृथिवी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर स्वर्ग में जाता है।

इस प्रकार राजनीति-दर्शन का आदि-काव्य में अनेक स्थलों में इतना गम्भीर तथा मार्मिक प्रतिपादन हुआ है, कि पढ़ने पर सामाजिक-जीवन के सत्य की आँखें खुल जाती हैं।

लोक-निरपेक्ष भौतिक-वादिता—

आदिकाव्य में भौतिकवादी विचारों के आवेश के भी अनेक प्रसंग मिलते हैं। वनस्थली में जाबालि ने रामचन्द्र से कहा है—कौन किसका बन्धु है, किसको किससे क्या पाना है? मनुष्य अकेला उत्पन्न होता है और अकेला नष्ट होता है। अतएव माता-पिता समझ कर जो मनुष्य व्यक्ति विशेष में प्रेम करता है, उसे उन्मत्त ही समझना चाहिए, क्योंकि कोई किसी का नहीं है। जिस प्रकार दूसरे गाँव में जाता हुआ कोई मनुष्य बाहर थोड़ी देर विश्राम करता है और दूसरे दिन उस स्थान को छोड़कर चला जाता है, इसी प्रकार मनुष्यों के माता-पिता, घर, वन केवल रहने के स्थान हैं, इनमें सज्जन लोग अनुराग नहीं करते

हैं। पिता प्राणियों का केवल निमित्त कारण है, ऋतुमती माता के गर्भ में शुक्र और शोणित के मिलने से पुरुष का जन्म होता है। प्रत्यक्ष अर्थ को छोड़ कर जो लोग धर्म का आश्रय करते हैं, मैं उन्हीं के लिए शोक करता हूँ। दूसरों के लिए नहीं, क्योंकि वे इस लोक में दुःख उठाकर परलोक में नष्ट हो जाते हैं। पितरों के उद्देश्य से लोक में श्राद्ध करने का जो विधान प्रचलित है, उसमें केवल अन्न का नाश किया जाता है, क्योंकि मरा हुआ मनुष्य कैसे खा सकता है ? यदि दूसरे का खाया हुआ अन्न दूसरे के शरीर में जाता हो तो प्रवास में जाने वाले का भी श्राद्ध किया जाय, जिससे उन्हें रास्ते में भोजन मिले। महामते, इस लोक के अतिरिक्त दूसरा लोक नहीं है, यह तुम समझो। जो प्रत्यक्ष है, उसी को तुम समझो और जो परोक्ष है, उसका त्याग करो। इसी प्रकार इन्द्रजीत ने जब सीता को मार डालने का छल-फैलाया और समाचार सुनकर राम मूर्च्छित हुए, तब लक्ष्मण ने राम से कहा—"हे सज्जन मुख्य ! यदि धर्म सत् होता तो तुम्हारा असत्, अकल्याण कभी न होता, तुमने जो इतना दुःख उठाया है, उससे मालूम होता है, कि धर्म नहीं है। यदि मान भी लिय जाय कि धर्म, है तो भी वह दुर्वल है, क्लीव है, ऐसा मानना पड़ेगा, वह बल का अनुयायी है। मेरा मत है कि दुर्बल और मर्यादा हीन की उपासना नहीं करनी चाहिए। यदि बल, का अनुयायी ही धर्म है, तो पराक्रम से व्यवहार करो, धर्म छोड़ो, इस समय जिस प्रकार धर्म में आरूढ़ हो, उसी प्रकार बल में आरूढ़ हो जाओ। अर्थहीन अज्ञानी पुरुष की सभी क्रियायें नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार गर्मी के दिनों में छोटी नदियाँ सूख जाती हैं। जिसके पास धन है, उसी के मित्र हैं, उसी के बान्धव हैं जिसके धन है, वही लोक में पुरुष है, वही पण्डित। जिसके धन है, वह पराक्रमी है, जिसके धन है, वह बुद्धिमान है, जिसके धन है, वह भाग्यवान है दमवीर है। जिसके धन है वही गुणवान् है। हर्ष, काम, दया, धर्म, क्रोध राम, दम राजन् ! अर्थ से ही सिद्ध होते हैं। जिन तपस्या करने वाले धर्मात्माओं का वह लोक अर्थ के बिना नष्ट हो जाता है, वही अर्थ तुम्हारे पास नहीं है, जिस प्रकार बुरे दिन आने पर अच्छे दिन नहीं रहते।"

इस प्रकार सांसारीक-सुख के प्रधानता का स्वर कतिपय स्थलों में स्पष्ट सुनाई देता है।

लोक-धर्म

जाबालि के मत का खंडन करते हुए रामचन्द्र ने लोक-धर्म का इस प्रकार समर्थन किया है—जिस पुरुष ने वेद-मार्ग का त्याग किया है और बहिर्भूत मार्ग का अवलम्बन किया है, वह पापी है और सज्जनों में उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती। चरित्र ही, वेद मर्यादा का पालन ही, मनुष्य की कुलीनता और अकुलीनता, पवित्रता और अपवित्रता, वीरता और कायरता बतलाता है। लोक में शंका उत्पन्न करने वाले, इस धर्म-विरुद्ध आपके उपदेश का यदि धर्म समझ कर हम ग्रहण करे, तो वेद बोधित मङ्गल कर्मों को छोड़ कर वेद विरुद्ध क्रियाओं के करने वाले हम होवें। कार्याकार्य का ज्ञान रखने वाला कौन चेतन पुरुष, वेद-विरुद्ध कार्य करने वाले और लोक को दूषित करने वाले मुझको अच्छा समझेगा। आपकी आज्ञा के अनुसार चलने पर मैं स्वयं यथेच्छाचारी हो जाऊँगा, तदनन्तर यह समस्त लोक यथेच्छाचारी हो जाएगा, क्योंकि राजा का जैसा व्यवहार होता है, वैसा ही प्रजा का व्यावहार हो जाता है। प्राणियों पर दया करने वाला सनातन राजधर्म सत्य ही है, इसलिए राज्य सत्यस्वरूप कहा जाता है और लोक भी सत्य की प्राप्ति में प्रयत्नशील रहते हैं। ऋषि और देवता सत्य को ही कल्याण-प्रद समझते है, सत्य इसी लोक में मनुष्य को अक्षय ब्रह्म लोक प्राप्त कराता है। झूठे मनुष्य से लोग वैसे ही भयभीत होते है, जैसे सर्प से। लोक में धर्म की पूर्ति सत्य से ही होती है। अतएव सत्य सबका मूल कहा जाता है। सत्य ही ईश्वर है। सज्जनों के द्वारा आश्रित धर्म सत्य में वर्त्तमान है। यह समस्त संसार का मूल-ईश्वर ही है, अतएव सत्य से बढ़कर दूसरा श्रेष्ठ पद नहीं है। लोभ, मोह या अज्ञान रूप तुम्हारे द्वारा प्रेरित होने पर भी सेतु के समान पिता के सत्य का त्याग नहीं करूँगा. क्योंकि मैं सत्य प्रतिज्ञ हूँ। मैंने सुना है, जो मनुष्य अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता है, वह धर्मच्युत चंचल मनुष्य यदि देवता और पितर को हव्य कव्य दे, तो वे ग्रहण नहीं करते। मनुष्य

मन में पाप करने का विचार करता है, पुनः उस पाप कर्म को कर्त्तव्य समझ कर जिह्वा से कहता है, तदनन्तर शरीर से करता है, अतएव पाप कर्म तीन प्रकार के होते हैं। इस कर्म भूमि में आकर जो पुण्य कर्म है, उनका अनुष्ठान करना चाहिए। अग्नि, वायु और चन्द्रमा उन कर्मों के भागी होते हैं। सत्य, धर्म, पराक्रम, प्राणियों पर दया, प्रियवादिता, द्विजाति, देवता और अतिथियों का पूजन, इनको सज्जन स्वर्ग का मार्ग मानते हैं। इस कारण ब्राह्मण इस अभिप्राय को ठीक-ठीक समझ कर एकमत होकर अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल धर्म का पालन करते हैं और इससे अपनी स्वर्गलोक-प्राप्ति की कामना करते हैं।

जीवन दर्शन

सृष्टि पहले यह सब जल था, उसमें पृथ्वी उत्पन्न हुई, तदनन्तर इन्द्र आदि अधिष्ठाता देवताओं के साथ स्वयंभू ब्रह्मा उत्पन्न हुए। तदनन्तर वे परब्रह्म वराह का रूप धरकर जल से पृथ्वी को निकाल लाये और प्रयत्नशील पुत्रों के साथ इस जगत का उन्होंने निर्माण किया। आकाश स्वरूप परब्रह्म से ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जो सदा वर्त्तमान रहने वाले अविनाशी और सदा नित्य हैं। उनसे मरीची उत्पन्न हुए और उनसे कश्यप। कश्यप से विवस्वान् और विवस्वान् से मनु हुए। (वशिष्ठ-रामसे ···)

मृत्यु—जो निश्चय है अर्थात् संगृहीत है, उसका अन्त क्षय है। जो ऊँचा है, उसका अन्त पतन है। संयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है। जिस प्रकार पके फलों के लिए नीचे गिरने के अतिरिक्त दूसरा भय नहीं है, उसी प्रकार उत्पन्न मनुष्य के लिए मृत्यु के सिवाय दूसरा भय नहीं है। जिस प्रकार मजबूत खम्भेवाला मकान भी पुराना होनेपर गिर जाता है, उसी प्रकार जरा और मृत्यु के वश में होकर मनुष्य भी मर जाता है। सूर्योदय पर मनुष्य प्रसन्न होता है, सूर्यास्त पर मनुष्य प्रसन्न होता है, पर इनसे उसके जीवन का नाश हो रहा है, वह यह नहीं समझता। आयी हुई नयी-नयी

ऋतुओं को देखकर मनुष्य प्रसन्न होता है, ऋतु-परिवर्तन से मनुष्यों के प्राण का नाश होता है। जिस प्रकार समुद्र में लकड़ी से लकड़ी मिल जाती है और कुछ समय तक मिली रहती है, पुनः समय पर अलग हो जाती है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, ज्ञाति और धन मिल जाते हैं और पुनः समय पर अलग हो जाते हैं। इनका वियोग निश्चित है। नहीं लौटने वाली धारा के समान, नहीं लौटने वाले और दिन-दिन गिरते हुए वय को देखकर मनुष्य को चाहिए, कि वह अपनी आत्मा को सुख के साधन धर्म में लगाये, क्योंकि मनुष्य-जन्म का फल धर्म के द्वारा सुख प्राप्त करना ही है।

लङ्का में पहुँचकर जब सीता को ढूँढने में हनुमान को विलम्ब हुआ, तब उन्हें प्रबल निराशा हुई। पर उन्होंने सोचा, हताश न होना सफलता का मूल है, यही परम सुख है, जिन स्थानों को मैंने नहीं ढूँढ़ा है, अब उन्हें ढूढूँगा। उत्साह सब कार्यों में प्रवृत्त करता है और मनुष्य के द्वारा प्रारंभ किये कार्यों को सफलता देता है।

राम राज्य

रामचन्द्र के राज्य के समय में विधवाओं के विलाप नहीं सुनाई पड़ते थे, दुष्ट जन्तुओं का भय न था और न किसी रोग का ही भय था। कोई चोरी नहीं करता था, कोई अनर्थ नहीं करता था और न बूढ़ों को बालकों का अन्तिम संस्कार करना पड़ता था। सभी प्रसन्न थे, सभी धर्मात्मा थे, राम की ओर देखकर उस समय के लोग परस्पर ईर्ष्या-द्वेष नहीं करते थे। राम-राज्य में लोग हजार वर्ष जीते थे, उनके हजारों पुत्र-पौत्र होते थे, न कोई रोगी होता था और न कोई दुःखी। वृक्षों की जड़े दृढ़ होती थीं, उस समय के वृक्ष सदा फूलते थे, फलते थे, इच्छानुसार वृष्टि होती थी, वायु सुखकारी चलता था। सभी अपने कर्मों में सन्तुष्ट थे और अपने कर्म करते थे। राम के शासन के समय में प्रजा धर्मात्मा थी, कोई असत्यवादी न था। उस समय सभी सुलक्षण होते थे, सभी धर्मात्मा होते थे।

पितृ-परम्परा से ही राम को अयोध्या की राजनीति सर्वाभ्युदय-सम्पन्न मिली थी। उस श्रेष्ठ नगरी में अनेक धर्मात्मा बहुश्रुत मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक रहते थे, वे सब अपने-अपने धन से सन्तुष्ट थे, लोभी न थे और सत्यवादी थे। उस नगरी में ऐसा कोई नहीं था, जिसका संचय आवश्यकता से कम हो। वहाँ कोई ऐसा गृहस्थ नहीं था, जिसके मनोरथ पूरे न होते हों। सभी के घर, गौ, घोड़े, धन-धान्य आदि से पूर्ण थे। कामी, कृपण, और क्रूर मनुष्य को अयोध्या में मिलता असम्भव था, वहाँ न तो कोई मूर्ख था और न कोई नास्तिक था। वहाँ के सभी स्त्री-पुरुष धर्मात्मा थे, संयमी थे, वे सभी शीलवान् और चरित्र-वान् थे, वे सब ऋषियों के समान शुद्ध थे। वहाँ के पुरुष कुण्डल, मुकुट और माला धारण करते थे. उनके पास काफी भोग की सामग्रियाँ थी, सभी स्नान करते थे, सभी शरीर में सुगन्धित वस्तुओं का लेप करते थे। वहाँ के वासी उत्तम भोजन करते थे, दान करते थे। वे अंगद (विजायट) निष्क (गले का भूषण) और कंकण धारण करते थे, पर वे सब के सब आत्मवान् थे, उनका मन उनके वश में था। वहाँ वाले सभी अग्निहोत्री थे, कोई ओछे विचार का न था, कोई चोर न था, अयोध्या पुरी में कोई चरित्रहीन नहीं था और न कोई वर्णसंकर ही था। वहाँ के जितेन्द्रिय ब्राह्मण अपने कर्म में सदा लगे रहते थे, दान देते थे और विद्याध्ययन करते थे, दान लेना पसन्द नहीं करते थे। वहाँ न कोई नास्तिक था और न झूठा, कोई ऐसा न था जो बहुश्रुत न हो। ईर्ष्या करने वाला, असमर्थ और मूर्ख वहाँ कोई नहीं था। अयोध्या में कोई स्त्री या पुरुष ऐसा नहीं था, जो सुन्दर न हो और जो राजा में भक्ति न रखता हो। चारों वर्णों के स्त्री और पुरुष देवता तथा अतिथियों की पूजा करनेवाले थे, वे सभी दानी थे, कृतज्ञ थे और पराक्रमी वीर थे। उस उत्तम नगरी के निवासी धर्म और सत्य के अनुयायी थे और दीर्घजीवी थे, स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि से भरे-पूरे थे। अग्नि के समान तेजस्वी क्रोधी योद्धा इस नगरी में रहते थे, वे अपनी विद्या में बड़े प्रवीण थे। जिस प्रकार सिंह गुफाओं में रहा करते हैं, उसी प्रकार वे वीर भी इस नगरी में रहा करते थे।

काम्बोज, वाह्लीक और वनायु (अरब) देशों में होनेवाले घोड़ों तथा नदी से उत्पन्न घोड़ों से वह नगरी भरी थी। विन्ध्य और हिमवान् पर्वत में उत्पन्न पर्वत के समान ऊँचे, मतवाले और बलवान् हाथी वहाँ थे। ऐरावत, महापद्म, अंजन और वामन, (ये चारों दिग्गज हैं) इनके वंशवाले भी हाथी वहाँ थे, उसनगर में तथा राज्य में कोई भी मनुष्य झूठ बोलने वाला न था। उस नगर में कोई भी ऐसा दुष्ट न था, जो दूसरे की स्त्री को बुरी निगाह से देखे। वह समस्त राज्य तथा नगर सुखी था।

राज-मंत्री

महात्मा इक्ष्वाकुवंशीराजा के मन्त्री बड़े गुणी थे। वे गुप्त बातें जानते थे, उनकी रक्षा करते थे। राजा के अभिप्राय समझते थे और कल्याण करने में तत्पर रहा करते थे। सभी श्रीमान् महात्मा शास्त्रज्ञ विक्रमी, कीर्त्तिमान्, सावधान और जो कहें, वही करने वाले थे। सभी तेजस्वी, क्षमाशील और यशस्वी थे, हँसकर बोलते थे, क्रोध से या किसी अपने स्वार्थ के लिए असत्य नहीं बोलते थे। स्वराष्ट्र तथा राष्ट्र की कोई बात उनको अज्ञात न थी! जो काम हो गये हैं और जो होने वाले हैं तथा दूसरे राज्य के गुप्त दूतों की गुप्त बातें भी वे जानते थे। वे व्यवहार में बड़े दक्ष थे, मित्रता में पक्के थे, समय आने पर शास्त्र के अनुसार वे अपने पुत्रों को भी दण्ड दे सकते थे। वे खजाना और सेना बढ़ाने में तत्पर रहा करते थे। श्रेष्ठगुण ग्रहण करते थे, प्रसिद्ध पराक्रमी थे। विदेशों में भी उनकी प्रसिद्धि थी तथा उनके विचार निश्चित होते थे।

शिक्षा

आदिकाव्य में शिक्षा की ऊँची तथा जीवन-व्यापिनी प्रगति का अत्यन्त प्रभाव-पूर्ण परिचय मिलता है। विश्वामित्र, वशिष्ठ, भरद्वाज अगस्त्य आदि अनेक ऋषियों के द्वारा अस्त्र-शस्त्र, शास्त्र आदि अनेक विद्याओं के अद्भुत-प्रशिक्षण की व्यवस्था समस्त देश में दिखाई देती है। अनेक कुलपतियों के

द्वारा ऊँची-शिक्षा की समस्या सुलझ गई है। जीवन के विशेष समारोहों में ज्ञान के पूर्ण-आलोक की झाँकी मिलती है। अयोध्या की सामाजिक स्थिति का प्रत्यक्ष कराते हुए महाकवि ने लिखा है—"वहाँ कोई ऐसा न था, जो वेद के छः अंगों को न जानता हो।" महाराज दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में जो ब्राह्मण संमिलित हुए थे, "उनमें कोई भी मूर्ख नहीं था, सभी पण्डित थे और ऐसा कोई नहीं था, जिसके सौ शिष्य न हों।" एक कर्म की समाप्ति और दूसरे कर्म के प्रारंभ में जो समय मिलता था, उसमें वक्ता और धीर ब्राह्मण परस्पर जीतने की इच्छा से भिन्न-भिन्न शास्त्रों की युक्तियों से शास्त्रार्थ करते थे।

विश्वामित्र ने रामचन्द्र को जिस प्रकार विद्या-दान दिया है, उसका अपूर्व-परिचय आदि-कवि ने इस प्रकार दिया है:—"उस समय विश्वामित्र ने बड़े कोमल-स्वर में "राम" ऐसा कहा। वत्स, जल ले आओ, जिसमें समय न बीतने पाए। इस मन्त्र को लो, ये मंत्र बला और अतिबला नामक अस्त्र विद्या के हैं। इस विद्या के प्रभाव से तुम्हें न कोई शारीरिक परिश्रम होगा, न मानसिक कष्ट होगा और न रूप में ही किसी प्रकार का परिवर्त्तन होगा। सोते या सावधान किसी भी दशा में राक्षस तुम्हारा अपकार नहीं कर सकते, तुम्हारे समान बलवान् पृथ्वी में कोई न रहेगा। हे रामचन्द्र, बला और अतिबला विद्याओं के जान लेने से तीनों लोकों में तुम्हारे समान कोई न रहेगा। हे अनघ (निष्पाप), अधिक पराक्रम, ज्ञान, बुद्धि-संबंधी विचार और किसी प्रकार के संशय को मिटाने आदि में तुम्हारे समान कोई न होगा। ये बला और अतिबला विद्याएँ सब प्रकार के ज्ञान की मातायें हैं। हे पुरुषोत्तम राम, इनके प्रभाव से तुम्हें भूख-प्यास का कष्ट न होगा। सबकी रक्षा के लिए इन विद्याओं को ग्रहण करो। ये ब्रह्मा की पुत्री हैं और बड़ी तेजस्विनी हैं। हे काकुत्स्थ, तुम इन विद्याओं के ग्रहण करने के सर्वथा योग्य हो, इसलिए तुम्हें देने के लिए मेरी इच्छा हुई है। इन विद्याओं के तुम्हारे पास जाने से बड़े लाभ होंगे, इसमें सन्देह नहीं। इन विद्याओं को मैंने तपस्या के द्वारा प्राप्त किया है, तुम्हारे यहाँ जाने से इनका बहुत विस्तार होगा।

रामचन्द्र ने आचमन किया और शुद्ध होकर प्रसन्नतापूर्वक उन ब्रह्मज्ञानी मुनि से इन विद्याओं को ग्रहण किया। विद्या से युक्त होने पर बड़े भारी पराक्रमी के समान वे उसी प्रकार शोभित होने लगे, जिस प्रकार हजार किरणों वाले भगवान् सूर्य शरदृऋतु में शोभित होते हैं। विश्वामित्र ने इसके अतिरिक्त अनेक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग एवम् संहार की मंत्र-दीक्षा राम को दी है। वशिष्ठ, सुधन्वा, अगस्त्य आदि ने भी अस्त्र-दान दिया है। इससे प्रतीत होता है कि अस्त्र-शस्त्र की विद्या उस समय अत्यन्त उन्नत थी। स्त्रियाँ भी अस्त्र-शस्त्रों की आविष्कर्त्री थीं। दक्ष प्रजापति की दो कन्यायें थीं, जया और सुप्रभा। इनका विवाह कृशाश्व से हुआ था। इन तीनों ने मिलकर असुर वधार्थ अस्त्र बनाया, जिन्हें कृशाश्वपुत्र कहा जाता है। देश-व्यापी शिक्षा-प्रसार के लिए जिस प्रकार उत्तर-भारत में वशिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज आदि महर्षि कुलपतियों के शिक्षा केन्द्र थे, उसी प्रकार दक्षिण भारत में भी सुतीक्ष्ण, शरभंग, अगस्त्य अनेक कुलपति आदि ऋषियों के शिक्षाश्रम थे।

मनुष्य ही नहीं, राक्षसों की शिक्षा-दीक्षा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी, इल्वल नामक राक्षस संस्कृत में ही भाषण करता था और ब्राह्मणों को आमन्त्रण भेजता था। रावण महापण्डित था, श्रौत स्मार्त वाङ्मय का पूर्ण-ज्ञाता था। वानरी-सभ्यता में भी शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा पराकाष्ठा प्राप्त थी। हनुमान् जब सुग्रीव के दूत बन कर सर्वप्रथम राम से मिलते हैं, उस समय उनके वाक्-कौशल से प्रभावित होकर राम उनकी संस्तुति इस प्रकार करते दिखाई देते हैं "जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नहीं, जिसे यजुर्वेद का ज्ञान नहीं और जो सामवेद का विद्वान् नहीं वह ऐसी बातें नहीं कर सकता। निश्चय इन्होंने समस्त व्याकरण कई बार सुने हैं, क्योंकि बहुत बोलने पर भी इन्होंने कोई भूल नहीं की है।" सीता की खोज के लिए समस्त वानरों को संसार के भिन्न-भिन्न भागों में भेजते समय सुग्रीव ने भूमण्डल के ऐसे अनेक अद्भुत देशों का वर्णन किया है, जिन्हें पढ़कर उनकी भौगोलिक तथा प्राकृतिक परिचय-दृष्टि की अगाध-गंभीरता का अनुभव होता है। लङ्का के यौद्धिक-दृश्यों

को देखकर वैज्ञानिक-प्रगति की भी पूर्णता का प्रत्यय हो जाता है। अयोध्या-किष्किन्धा और लङ्का की भौतिक-वैभव-वृद्धि भी विश्व-मोहिनी है।

शिक्षा की इस सर्वव्यापिनी-पूर्णता के उत्कर्ष का कारण अविचल-तपः-संकल्प-निष्ठा ही है। इसलिए यहाँ की ज्ञान-भूमि प्राणमयी है, निराधार परिवर्त्तनशीलता की नवीनता के मोह से कलुषित नहीं है। साद्यन्त इस महा-काव्य की भाषा महिमामय आलोक से आपूर्ण है। स्वयंप्रभा को वैज्ञानिक-उत्कर्ष की विमल-शिक्षा-ज्योति के रूप में देखकर किसका हृदय विमुग्ध नहीं होगा। शिक्षा के लोकपावन-प्रकाश में जीवन बिताने वाली शबरी रामचन्द्र का दर्शन प्राप्त कर कृतार्थता प्रकट करती हुई कहती है, आज तुम्हारे दर्शन से मैंने तपस्या की सिद्धि प्राप्त की। आज मेरा जन्म सफल हुआ और गुरुओं की पूजा सफल हुई। जिन ऋषियों की मैं सेवा करती थी, वे ऋषि तुम्हारे चित्रकूट में आनेपर, अत्यन्त प्रकाशमान विमानों पर चढ़ कर यहाँ से स्वर्ग चले गये। धर्म जाननेवाले, महाभाग उन महर्षियों ने मुझसे कहा था, कि रामचन्द्र तुम्हारे इस पवित्र-आश्रम में आएँगे। लक्ष्मण के साथ उनका तुम अतिथि-सत्कार करना, उनके दर्शन से तुम अक्षय लोकों में जाओगी। महा-मुनि, आत्मतत्त्व जानने वाले मेरे गुरुओं ने यहाँ मंत्रज्ञों के मंत्र से अभिमंत्रित यज्ञ में हवन किया था। प्रत्यक्स्थली नाम की वेदी है। जिस पर मेरे पूज्य आचार्यों ने थकावट के प्रभाव से काँपने वाले हाथों से देवताओं को पुष्पोप-हार दिया था। उपवास के कारण दुर्बल अतएव जाने में असमर्थ उन लोगों के ध्यान मात्र से आए हुए इन सातसमुद्रों को देखो। रघुनंदन, इन समुद्रों के प्रदेश में स्नान करके भींगे बल्कल, वृक्षोंपर जो हमारे गुरुओं ने रखे हैं, वे आजतक भी नहीं सूखे। देवताओं की पूजा करते हुए मेरे आचार्यों ने कमलों के साथ जो इन पुष्पों को रखा है, वे आज भी मलिन नहीं हुए हैं।

वेदवती अमित तेजस्वी ब्रह्मर्षि कुशध्वज की कन्या थी, ब्रह्मर्षि कुशध्वज बृहस्पति के पुत्र थे और बुद्धि में बृहस्पति के समान थे। वे महात्मा सदा वेदाभ्यास किया करते थे, उनसे ही वाङ्मयी कन्या के रूप में वेदवती उत्पन्न

हुई। वह कृष्ण मृग-चर्म और जटा धारण किए हुई थी, ऋषियों की विधि से रहती थी, तथा देवताओं के समान प्रकाशमान् थी। वह पुरुषोत्तम नारायण को पति रूप में प्राप्त करने के लिए कठोर तप कर रही थी। रावण को देखकर उसने कहा—हे पौलस्त्यनंदन, मैंने तुमको जान लिया है, तुम जाओ, क्योंकि संसार में जो कुछ है, वह सब मैं तपस्या के प्रभाव से जान लेती हूँ।

इस प्रकार शिक्षा के निर्मल-आलोक का प्रत्यक्ष आदि काव्य में सर्वत्र मिलता है। ठाकुर रवीन्द्रनाथ ने ठीक ही लिखा है "वाल्मीकि रामायण आरती उतारने की वस्तु है, वह आलोचना-प्रत्यालोचना से ऊपर की चीज है।"

कला-कौशल

आदि-काव्य में कला-कौशल के अखंड-वैभव का अभूतपूर्व-दृश्य दर्शित है। अपने परवर्त्ती-युग की समस्त-काव्य-संस्कृति में इसके स्वरों की साभार झंकृति मिलती है। इसकी महनीयता एवम् जीवनोपयोगिता का परिचय देते हुए महाकवि ने स्पष्ट कहा है "जिसके घर में यह काव्य रहता है, उसके विघ्न नष्ट हो जाते हैं। राजा विजयी होता है और प्रवासी कुशली होता है। गम्भीरार्थ इस श्रेष्ठ काव्य को सुनने से मनुष्यों की कुटुम्ब वृद्धि-धान्य-वृद्धि, सुन्दरी स्त्रियाँ तथा उत्तम सुख मिलता है और अर्थ सिद्धि होती है। यह काव्य आयु, आरोग्य, यश, मातृ प्रेम और शुभवृद्धि देता है। अतएव समृद्धि चाहने वाले सज्जनों को ओज देने वाले इस काव्य का नित्य श्रवण करना चाहिए।

काव्य और संगीत की पूर्णता की समन्विति का नितान्त मधुर मंद्र—गंभीर उद्घोष काव्य में सर्वत्र मिलता है। इसकी परिणति गायक और भावक हृदय में किस प्रकार होती है। इसका मर्मस्पर्शी प्रत्यक्ष इस प्रकार मिलता है:—प्रसन्न तथा सावधान अपने लव-कुश नामक दो शिष्यों को महर्षिवाल्मीकि ने आज्ञा दी कि तुम लोग रामायण का निर्भय होकर गान करो। ऋषियों के पवित्र स्थानों में, रामचन्द्र के भवन के द्वार पर जहाँ लोग काम करते हैं, वहाँ और ऋषियों के पास विशेष रूप से गान को सुनाओ। पर्वत के शिखर पर ये अनेक तरह के फल हैं इन्हें खा-खाकर गाओ। गाते-गाते जब थक जाओ,

तब खाओ। इस प्रकार तुम लोग लोग लोभ से खा रहे हो, यह समझ कर कोई तुम्हारी हँसी न करेगा। अथवा थकने पर जब तुम लोग फल-फूल खाओगे तो गले की मधुरता भी नष्ट नहीं होगी। धन के लिए थोड़ा भी लोभ न करो। आश्रम में रहने वाले और फल-फूल खाने वालों को धन से क्या काम है। मधुर स्वर वाली ये वीणा हैं, इनसे अपूर्व स्वर निकालो। इनके स्वरों को मिलाकर निश्चित होकर गाओ। प्रारंभ से ही रामायण गाओ, राजा का अपमान न हो, क्योंकि राजा धर्मतः प्राणियों का पिता होता है। कल साव-धान होकर वीणा के साथ मधुर गान गाओ।

रात बीतने पर प्रातः काल स्नान और हवन करके ऋषि ने जहाँ बतलाया था, वहाँ वे गाने लगे। रामचन्द्र ने गाने के साथ नवीन ढंग से पढ़ना सुना। वह स्वाध्याय शैली पूर्वाचार्यों की बनायी रीति के अनुकूल थी। इस गान में अनेक प्रकार के क्रम थे, वीणा के मधुर स्वर के साथ वह गाया जाता था। उन बालकों का वह गाना सुनकर रामचन्द्र बहुत विस्मित हुए। यज्ञ के अवकाश में मुनियों, राजाओं, वेदज्ञ पण्डितों, पौराणिकों, वैयाकरणों-वृद्ध ब्राह्मणों, स्वर जानने वालों, गाना सुनने के रसिक ब्राह्मणों, सामुद्रिक लक्षण के विद्वानों, छन्दः शास्त्र के पण्डितों, कलाविदों ज्योतिषियों, कर्मकांडियों, व्यवहारदक्षों, नैयायिकों, बहुश्रुतों, वैदिक छन्दों के ज्ञाताओं, पुराणवाचकों, वेदपाठियों, चित्रकाव्य के ज्ञाताओं, सदाचारी पण्डितों, सुबुद्ध पण्डितों और गीत-नृत्य के पण्डितों को एकत्र कर रामचन्द्र ने गानेवाले बालकों को बुलाया। वे दोनों मुनि कुमार वहाँ गाने लगे। श्रोताप्रसन्न होकर वाह-वाह करने लगे। वहाँ मनुष्य लोक में दुर्लभ गाना होने लगा, पर सुनने वाले तृप्त नहीं हुए, सुनने की उत्सुकता बढ़ने लगी। मुनि तथा पराक्रमी राजा उन बालकों को बार-बार देख रहे थे, मानों उन्हें वे पी रहे हों। गान सुनकर भ्रातृ-प्रेमी रामचन्द्र भाई से बोले अट्ठारह हजार सोने के सिक्के इन महात्माओं को शीघ्र दो और भी जो कुछ ये चाहें दो। भरत ने उन बालकों को आधा-आधा दिया। गाने वाले बालकों ने वह सोना नहीं लिया। उनलोगों ने विस्मित होकर कहा, कि इसे लेकर

हम क्या करेंगे ? हम वन वासी हैं, फल-फूल से हमारा काम चल जाता है। उन लोगों की यह बात सुनकर श्रोता रामचन्द्र, सभी बहुत विस्मित हुए। यह आदिकाव्य के संगीतमय-सत्प्रभाव का दृश्य-दर्शन है।

काव्य तथा संगीतकला की महीयसी समन्विति का जिस प्रकार यह दृश्य नितान्त सत्प्रभावपूर्ण है। उसी प्रकार दृश्य काव्य का भी मनोरम संकेत मिलता है। अयोध्या में पिता की मृत्यु की दुर्घटना के बाद भरत जब ननिहाल में दुःस्वप्न देख कर उद्विग्न हुए, तब कुछ लोग भरत की शान्ति के लिए वीणा बजाने लगे कई नाच कराने लगे, कुछ लोग हास्य रसप्रधान अनेक नाटक करने लगे। राम के लिए भी कहा गया है कि गीत-वाद्य आदि शिल्पों के ये विज्ञाता हैं, इनके गुण दोषों का उन्हें ज्ञान है। अयोध्या के निस्सीम वैभव का परिचय रामाश्वमेध के दान से ही मिल जाता है। वहाँ जो चिरजीवी महात्मा मुनि थे, उनको ऐसे किसी यज्ञ का स्मरण नहीं था, जिसमें इतनी अधिकता के साथ दान किया गया हो। जो स्वर्ण चाहता था, वह सुवर्ण पाता थ , धन चाहने वाला धन तथा रत्न चाहने वाला रत्न पाता था। उस यज्ञ में कोई दीन, दुःखी अथवा मलिन न था। सभी प्रसन्न और पुष्ट थे।

इस प्रकार ललित कलाओं की अनुत्तम पूर्णता के साथ उपयोगी कलाओं की दृष्टि से भी महाकाव्य की रूप-रेखा अत्यन्त विकसित है। अयोध्या की ही नहीं, किष्किन्धा और लङ्का की वस्तु-कला भी नितान्त मनोहारिणी है। लक्ष्मण ने किष्किन्धा की उस रमणीय बड़ी गुफा को देखा, जो रत्नों से भरी थी अलौकिक थी, जिसके वन में खूब फूल लगे हुए थे। हर्म्य (धनियों की अटारी) प्रासादों राजाओं और देवताओं की अटारियाँ से सघन, विविध रत्नों से शोभित, सदा फूलने फलने वाले वृक्षों से वह नगरी शोभित थी। खेत पर्वत से घिरे हुए, जाने में कठिन, सुग्रीव के रमणीय घर को लक्ष्मण ने देखा। यह इन्द्र के घर के समान था। कैलास शिखर के समान श्वेत शिखरों से वह गृह सुशोभित था। द्वार पर दिव्य मालायें लटकाई गई थीं, सोने का तोरण बना हुआ था। सात खण्ड जाकर जिनमें सवारी और आसन आदि रखे हुए थे, बहुत ही गुप्त और

तालाब में हाथी बनाए गए थे, जिनको सूँड़ में केसर युक्त कमल शोभित हो रहे थे। हाथ में कमल लिए हुई और सुन्दर हाथों वाली लक्ष्मी भी वहाँ बनायी गई थीं। सोने के भेड़ियों के चित्र जिस पर बने हुए हों, ऐसे सुन्दर बने खम्भों से उसकी शोभा बढ़ रही थी। सोने की बड़ी उत्तम सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। सोने और स्फटिक की जालियाँ खिड़कियों में लगी हुई थीं। नीलम तथा अच्छी जाति के नीलम की वेदियाँ बनी हुई थी।

अशोक वाटिका की झाँकी देते समय महाकवि ने उपवन की कला का मनोहर प्रत्यक्ष कराया है। चाँदी और सोने के वृक्ष चारों ओर लगे थे। मतवाले कोकिल और मृगराजों का वहाँ बसेरा था, वहाँ जाने वाले मनुष्य प्रसन्न हो जाते थे। पशु और पक्षी अपनी मस्ती से उस वन में विचर रहे थे! भिन्न-भिन्न रंग के पुष्प वृक्षों से पृथ्वी पर गिरे थे, जिस से वहाँ की भूमि अलंकृता स्त्री के समान जान पड़ती थी। वहाँ अनेक प्रकार के बने हुए तालाब थे, जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ था, तथा मूल्यवान मणि की सीढ़ियाँ कई ओर बनी हुई थीं। मोती और मूँगे बालू के समान फैले हुए थे। हनुमान् ने एक सोने का शिंशपा वृक्ष देखा, जो लताओं से घिरा हुआ था। जिसमें बहुत से पत्ते थे और जिसके चारों ओर सोने की वेदियाँ बनी हुई थीं। हनुमान् ने वहाँ मैदान पर्वत, झरने तथा अग्नि के समान दीप्यमान दूसरे प्रकार के सुवर्ण वृक्ष देखे। मेघ के समान उन वृक्षों की प्रभा से वीर हनुमान ने अपने को भी सुवर्ण ही समझ लिया। अनेक प्रकार के पशुओं से युक्त और विविध वनों से युक्त, विश्वकर्मा के बनाए बड़े-बड़े तथा अनेक कृत्रिम महलों से युक्त उस वाटिका को हनुमान ने देखा।

लंका की भाँति अयोध्या की अशोक-वाटिका भी सुषमा की स्पर्धा में अप्रतिम है। वह वाटिका चन्दन, अगुरु, आम, देवदारु, चम्पक, महुआ, कटहल, पारिजात, लोध, कदंब, अर्जुन, नागकेसर सप्तपर्ण अतिमुक्तक, मन्दार, केला तथा अन्य गुल्मों तथा लताओं से ढँकी हुई थी। प्रियंगु, कदंब, बकुल,

जम्बू, दाडिम तथा कोविदार से वह शोभित थी। सदा रमणीय पुष्पों, दिव्यगन्ध और रसयुक्त मनोहर फलों, तृणांकुर और पल्लवों से वह वाटिका मनोहर थी। वहाँ के कोई वृक्ष सुवर्ण के समान थे, कोई अग्निशिखा के समान थे, कोई कृष्ण अग्नि के समान थे। वहाँ सुगन्धित पुष्प तथा पुष्पों के गुच्छे थे, छोटी बड़ी अनेक बावलियाँ थी, जो जल भरी हुई थीं। उनमे मानिक की सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। बीच-बीच में स्फटिक के चौतरे बने थे और विकसित कमल-वन था, जो चक्रवाक से सुशोभित था। अनेक प्रकार की दीवारों तथा पत्थरों से वह वाटिका शोभित थी। वहाँ वैदूर्यमणि के रंग की घास थी, पुष्पित वृक्षों का वन था। विकसितपुष्पों को टकराने से वहाँ के पत्थर फूलों से भर गये थे, जिससे तारकखचित आकाश के समान वहाँ की शोभा हो गई थी।

कला की नैसर्गिक-सुषमा का परिचय स्वयंप्रभा नामक तपस्विनी की बिल से मिल जाता है। सीता की खोज के लिए दक्षिण दिशा में जाने वाले वानरों ने सिंह तथा अन्य पशु-पक्षी जहाँ से निकल रहे थे उस बिल में ज्वलित अग्नि के समान सोने के ताल, शाल, तमाल, पुन्नाग, बंजुल, धव, चम्पक, नाग और कर्णिकार आदि वृक्षों को देखा। वे सब फूले हुए थे। सुवर्णमय गुच्छे और लाल कोढ़ियाँ लगी हुई थीं। बाल सूर्य के समान सोने के बड़े-बड़े वृक्षों, सोने की बड़ी-बड़ी मछलियों और सोने के बड़े-बड़े कमलों से युक्त स्वच्छ जल वाले तालाब तथा सोने चाँदी का विमान उन लोगों ने देखे। सोने की खिड़कियाँ जिनमें मोती की जाली लगी हुई, सोने चाँदी के बंटे, जिनमें वैदूर्यमणि लगी हुई थी, ऐसे उत्तम घर उन वानरों ने देखा।

इस प्रकार कलात्मक चमत्कृति की सूक्ष्म तथा भास्वर रेखाओं से आदि-काव्य की सुषमा अत्यन्त मनोहारिणी है। महाकवि की दृश्य-विधायिनी कल्पना का सुन्दर परिचय यज्ञ, उत्सव आदि की झाँकी से मिल जाता है।

क्रियार्थ संगति

जीवन के युगान्तर-गौरव-संकल्प का आधार समष्टि व्यापिनी क्रियार्थ-संगति ही होती है। रामायण महाकाव्य के चरित नायक राम की रमण शीलता

का प्रत्यय रम् धातु के साद्यन्त-प्रयोग से अभिनव चमत्कृति के साथ झंकृत हुआ है। प्रारंभ में भर्ग मुनि के सर्वकाम परिपूरक आश्रम में विश्वामित्र ने राम लक्ष्मण को सुन्दर कथाओं द्वारा प्रसन्न किया है:—

कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ।
रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनि पुंगवः।१।२३।२२।

धर्मात्मा मुनिपुंगव कौशिक ने राजपुत्रों को आल्हादित किया। इसके पश्चात् अयोध्या की कुलवन्धुओं ने पूज्यजनों को प्रणाम कर एकान्त में अपने-अपने पतियों के साथ निर्भय, आनंदमय जीवन व्यतीत करने लगीं। यहाँ रम् धातु का रञ्जनार्थक प्रयोग इस प्रकार मिलता है: —

अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा।
रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः।१ ७७।१५।

ऐसा भी मिलता है:

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।

अर्थात् योगिवर्य अनन्त, शाश्वत् आनदमय चेतन-आत्मा में रमण करते हैं। सीता वनस्थली के जीवन को वरण करती हुई राम से कहती हैं—मैं आप की सेवा करूँगी, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहूँगी, आपके बतलाए नियमों का पालन करूँगी और हे वीर, आपके साथ मधुर गन्ध वाले वनों में विहार करूँगी—

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु।२।२७।१३

चित्रकूट में राम ने सीता से पूछा है,— हे वैदेहि, क्या मेरे साथ चित्रकूट में मन, वचन और शरीर को प्रिय अनेक तरह के पदार्थों को देखने से तुम्हें आनंद आता है।" उपवन विहार की झाँकी दिखाते हुए महाकवि ने कहा है—किन्नरियों के साथ अप्सरायें, नाग कन्यायें तथा दक्षिण देश की सुन्दरी स्त्रियाँ मद्यपान से मतवाली होकर रामचन्द्र के सामने नाचने लगीं। ये सभी नृत्य गीत में निपुण थीं। सीता के साथ बैठे हुए आनंद देने वालों में श्रेष्ठ धर्मात्मा रामचन्द्र ने मन को मोहित करने वाली सब तरह से सजी हुई

उन स्त्रियों को क्रीडा करने की आज्ञा दी। इस प्रकार प्रसन्नचित रामचन्द्र देवकन्या के तुल्य सीता को प्रतिदिन रमण कराते थे, मानो देवता रमण कराते हों।

अप्सरोरगसंघाश्च किन्नरीपरिवारिताः।
दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशं गताः।७।४२ २१।
मनोभिरामा रामास्ताः रामो रमयतां वर।
रमयामास धर्मात्मा नित्यं परम भूषितः।७।४२।२२,२३।
एवं रामो मुदा युक्तः सीतां सुरसुतोपमाम्।
रमयामास वैदेहीं अहन्यहनि देववत् ७।४२।२५।

अतिथियों के साथ राम के व्यवहार का प्रत्यक्ष कराते हुए कविने लिखा है—कामरूपी वानर, महाशक्तिमान् राक्षस तथा महाबली ऋक्ष इन सबके साथ राम रमते रहे—

रामोऽपि रेमे तैः सार्धं वानरैः कामरूपिभिः।
राक्षसाश्च महावीर्यैॠक्षैश्चैव महाबलैः।

—:o:—

आदिकाव्य में नारी

आदिकवि के पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में नारी को नितान्त गौरव-पूर्ण-दृष्टि से देखा गया है। ऋग्वेद के ऋषि ने कहा है कि शत्रुओं को मारने वाले पुत्र तथा विविध गुणों से चमकने वाली कन्या मेरे घर में हो। आर्थवण ऋषि के मत से ब्रह्मचर्य से युवती हुयी कन्या युवा-पति को प्राप्त होती है। शुद्ध और पवित्र हुयी स्त्रियाँ यज्ञ के योग्य होती हैं। नारी के वधूत्त्व की गुणात्मक गरिमा का हृदयसे अभिनन्दन किया गया है। यह वधू ससुर के समीप सम्राज्ञी हो, सास के समीप सम्राज्ञी हो। ननद के और देवर के समीप साम्राज्ञी है। तू सौम्म दृष्टि वाली, पति के जीवन को बढ़ाने वाली, पशुओं के लिए कल्याण कारी हो। तू अच्छे मन वाली, अच्छी कान्ति-वाली, वीर-संतान उत्पन्न करने वाली, ईश्वर की कामना वाली और सुख देने वाली हो। तू हमारे मनुष्यों और पशुओं के लिये सुखदायी हो। ब्राह्मण ग्रंथों में नारी को पुरुष शरीर का आधा भाग कहा है। इसलिये अपत्नीक पुरुष अयज्ञ होता है। स्त्री के धर्म का परिचय देते हुये कहा गया है, कि, प्रसिद्ध वैद्यराज अश्वी ओषधि करते हुये फिरते थे! उन दोनों ने शर्यात की पुत्री च्यवन की धर्मपत्नी सुकन्या से यह कहा—"हे सुकन्या, इस भाँति वृद्ध, अमंगल रूप, के पास क्यों रहती हो? हमारे साथ चलो।" उसने तब यहा—जिसको मुझे पिता ने दिया है, उसे जीवित रहते हुये मैं निश्चित रूप से नी छोड़ूँगी, क्योंकि यही हम स्त्रियों का धर्म है। इसी आदर्श की व्यंजा कवि-कल्पित समस्त नारी आदर्श में सुस्पष्ट मिलती है। अपने काव्य को इसीलिए महाकवि ने 'सीतायाश्चरितं महत्" कहा है। वैदिक-नारी-निष्ठा कवि की विविध नारी सृष्टि के दर्शन से स्पष्ट हो जाती है।

कन्या रूपः—

जीवन में नारी के सर्व-प्रथम अस्तित्व की झलक कन्यारूप में मिलती है, राजा जनक की सीता अयोनिजा कन्या हैं। उनकी उपलब्धि और उनके प्रति अपने गुरुतर-कर्त्तव्य का परिचय कराते हुए जनक ने विश्वामित्र से कहा है, एक बार मैं क्षेत्र-शोधन करता हुआ हल जोत रहा था, उस समय फाल के नीचे की भूमि में "सीता" नाम की प्रसिद्ध पुत्री निकल आई, उसे मैंने अपनी कन्या मान ली और वह बढ़ने लगी। हे भगवन्! अब वह सयानी हो गई है और मैंने अपनी उस अयोनिजा कन्या का शुल्क केवल पराक्रम रक्खा है"। इस महान् व्रत के कारण जनक को अनेक राजाओं से युद्ध का कठोर सामना करना पड़ा। जिस शिव धनुष को पराक्रम की परीक्षा की कसौटी उन्हों ने बनाया था, उसे कोई तोड़ नहीं सका। राम इस कसौटी पर सफल उतरे। इसलिए राम को उन्होंने वधू के रूप में सीता को प्रदान किया। इससे कन्या के प्रति पिता के गौरव-पूर्ण-संकल्प तथा नारी-शक्ति के प्रति कवि-निष्ठा का भलीभाँति परिचय मिल जाता है।

सीता ने अनुसूया से अपना यही परिचय दिया है, कि मिथिला प्रदेश के अधिपति महाराज जनक एक राजा हैं। वे सदा क्षात्र-धर्म में तत्पर रहते हुए न्याय पूर्वक पृथ्वी का शासन करते हैं। एक बार अकाल पड़ने पर हल लेकर स्वयम् खेत जोत रहे थे। इसी समय पृथ्वी फोड़ कर मैं निकल आयी और आगे चल कर उनकी राजकन्या बनी। तब तक महाराज को कोई कन्या नहीं थी। इस कारण बड़े प्रेम से उन्होंने मुझे उठा लिया और कहा—यह मेरी पुत्री हैं और तभी से वह मुझे प्यार करने लगे। उसी समय आकाश से देववाणी सुनायी दी, हे महराज जनक! वास्तव में यह तुम्हारी धर्मकन्या है। जब मैं सयानी होकर पति के योग्य हो गयी, तो मेरे पिता को ऐसी चिन्ता हुई, जैसे किसी धनी मनुष्य का सर्वस्व लुट जाय और वह निर्धन होकर सोचने लगे। कन्या के पिता को अपने बराबर तथा कभी-कभी छोटे से अपमानित होना पड़ता है, फिर कन्या का पिता चाहे इन्दु के सदृश प्रभावशाली क्यों न हो,

उसे अपमान के समक्ष उपस्थित देखकर मेरे पिता जी चिन्ता-समुद्र में उसी प्रकार डूबने लगे, जैसे कोई विना नौका वाला मनुष्य जब डूबने लग जाये। पिता जी ने बहुत सोचा-विचारा, पर मेरे योग्य वे कोई वर नहीं पा सके। क्योंकि मैं मानवी-योनि से उत्पन्न नहीं हुई थी। इस विवरण से स्पष्ट होता है, कि पुत्री के वैवाहिक संबंध की कितनी गंभीर चिन्ता पिता के हृदय में होती है।

कन्या का विवाह पिता की अभिरुचि पर निर्भर होता है, इसकी पुष्टि कुशनाभ की कन्याओं के प्रसंग से भी होती है, जिन्हें वायु बलपूर्वक अपनाना चाहते थे। कन्याओं ने इस अवसर पर कहा है, कि मेरे पिता ही इस समय मेरे गुरु और सर्वश्रेष्ठ देवता हैं, वे जिसको मुझे दे देंगे, वही मेरा पति होगा। इस प्रकार कन्या के विवाह में पता का प्राधान्य सुस्पष्ट दिखाइ देता है। कन्या-मूर्ति की निश्छल-दिव्यता, सद्‌गुणसम्पन्नता, तथा तपः शीलता का मनोहर दर्शन राजर्षि तृण-विन्दु की कन्या से मिलता है। जब सुन्दरी कन्याओं के नृत्य-गीत आदि से पुलस्त्य मुनि की तपस्या में बाधा पड़ने लगी, तब उन्होंने कहा, कि जो लड़की मेरी आंखों के सामने पड़ जायेगी, वह गर्भवती हो जायेगी। यह शाप की वाणी तृण विन्दु की कन्या ने नहीं सुनी। वह राजर्षि-कन्या वेद-ध्वनि सुनने की इच्छा से जैसे ही उन तपोवन का दर्शन करने आई, वैसे ही उन्हें देखते उसका शरीर पीला पड़ गया और गर्भ के लक्षण प्रकट हो गए। जब अपने पिता के पास आई तथा उन्होंने इस रूप को देखा। तप के प्रभाव से युक्त तृण-विन्दु ने ध्यान धर दिव्य-दृष्टि से सारा हाल जान लिया। कन्या को साथ लेकर मुनि के समीप वे गये और जाकर उन्हों कहा, हे भगवन्, अपने गुणों से भूषित और अपने आप आई हुई मेरी इस कन्या को भिक्षारूप में आप अंगीकार करें। जब तप करते करते आप थक जाया करेंगे, तब निश्चय ही यह आप की सेवा-टहल किया करेगी। मुनि ने स्वीकार किया।

मुनि ने उसे आशीर्वाद दिया, कि हे सुश्रोणि, मैं तेरी गुण-सम्पदा से बहुत प्रसन्न हूँ। अतः हे देवि! आज मैं अपने तुल्य पुत्र तुझे देता हूँ, वह दोनों वंशों का बढ़ाने वाला और पौलस्त्य के नाम से प्रसिद्ध होगा। तूने वेद-ध्वति सुनकर

गर्भ धारण किया है, अतः निस्संदेह उसका नाम विश्रवा होगा। इससे इस राजर्षि तृणविन्दु की कन्या की तपः समादर-निष्ठा और पितृभक्ति ही उसके भविष्य-मंगल का कारण बन गई है।

ऐसी ब्रह्मवादिनी कन्यायें मिलती हैं, जो आजीवन कौमार्यव्रत धारण कर स्वाध्याय–यज्ञ और तपस्या में ही अपने जीवन को बिताती थीं। स्वयम्प्रभा और वेदवती ऐसी ब्रह्मवादिनी महिलाएँ हैं। मेरु सावर्णि ऋषि की पुत्री स्वयं प्रभा ऋक्षविल नामक गिरि–दुर्ग के निकट अपने पिता के आश्रम में रहती थी। सीता के अन्वेषण के समय हनुमान् से इसका परिचय हुआ। चीर तथा कृष्ण मृग-चर्म धारण किए हुए वह सर्वज्ञा नियताहारा, सर्वभूत-हितरता तपस्विनी सदा धर्म-कार्यों में लगी रहती थी। उसके कर्तव्य-कर्म पूर्ण हो गये थे।

इसी प्रकार वेदवती के पिता ब्रह्मर्षि कुशध्वज ने वेदाभ्यास में सदा तत्पर रहने के कारण पुत्री का नाम वेदवती रक्खा। पिता के अवसान के बाद वह ब्रह्मचारिणी का ही जीवन वरण करती हैं। रावण के दुर्व्यवहार से त्रस्त होकर उसने अग्नि में अपनी आहुति देदी। इन प्रसंगों से कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा का भी पूर्ण परिचय मिल जाता है। सीता की वाणी सुनकर तपस्विनी अनुसूया ने कहा, तुमने बड़ा ही मधुर भाषण किया, तुम्हारे अक्षर और पद स्पष्ट थे।

वधू-रूप—

वधू-रूप में नारी परिवार-साम्राज्य की सम्राज्ञी होती है। सीता इस आदर्श की मूर्ति हैं। उनके प्रति उनके सास, ससुर के हृदय में नितान्त गौरव पूर्ण-आत्मीयता दिखाई देती है। वनवास के समय उसकी पूर्णता की अभिव्यंजना हुई है। उनकी सुषमा विश्वविजयिनी है। उनके सौन्दर्य ने न केवल मानव-पुरुषों को अपि तु देवों और राक्षसों को भी मुग्ध कर लिया।

आदर्श पत्नी—

आदर्श पत्नी के रूप में कौसल्या, कैकेयी, सुमित्रा, तारा और मन्दोदरी का अत्यन्त प्रभावपूर्ण चित्र अंकित है। कौसल्या दशरथ के समक्ष दासी, मित्र

भार्या, माता, भगिनी के रूप में उपस्थित होती हैं। कैयेयी, तारा और मन्दोदरी अपने पतियों के लिए मंत्रिणी के रूप में दिखाई देती हैं।

पतिव्रता—

पतिब्रता नारी की जीवन साधना की संस्तुति हृदय से महाकवि ने की है। जब वन को जाते समय रामने सीता को अयोध्या में रहने के लिए समझाया तो उनका सतीत्व जल उठा, उन्होंने कहा आर्य-पुत्र पिता, माता, भाई, पुत्र तथा पुत्र वधू ये सब अपने-अपने कर्म के अनुसार दुःख-सुख भोगते हैं। पुरुष श्रेष्ठ, एक स्त्री ही पति के कर्मफलों की भागिनी है। अतएव— आपके लिये वनवास की जो आज्ञा हुयी है, वह मेरे लिये भी हुयी है, अतः मैं बन में ही रहूँगी। पिता, पुत्र माता और सखियाँ ये कोई भी स्त्रियोंके लिये न तो इस लोक में और न परलोक में सहायक हो सकते हैं। केवल एक पति ही स्त्रियों के लिये इस लोक, परलोक में गति है। वही आश्रय है। कौसल्या ने सीता को सतीत्व का ही संदेश दिया है। पातिव्रत्यधर्म की नितान्त कठोर-साधना को जब सीता के सामने साध्वी, तपस्विनी अनुसूया ने अभिनन्दित किया। तब सीता उसको स्वीकार करते हुये बोलीं—मेरे पतिदेव यदि अनार्य और चरित्र हीन होते, तो भी मैं बिना किसी द्विविधा के उसकी सेवा करती। फिर जब वह अपने गुणों के कारण सबकी प्रशंसा के पात्र हैं। दयालु और जितेन्द्रिय, स्थिर अनुराग वाले, धर्मात्मा तथा माता-पिता की तरह प्रिय हैं। तब तो उनकी सेवा में क्या द्विविधा हो सकती है। स्त्री के लिये पति की सेवा से बढ़ कर कोई दूसरा तप नहीं है। सामने भी वन में जाने के लिये उद्यत माता कौसल्या को पति-भक्ति में हीं नारी-जीवन की सार्थकता का बोध करया है। नारी को अपने पति के प्रिय और हित में संलग्न रहकर सदा उसी की सेवा करनी चाहिये। यही स्त्री का लोक और वेद में वर्णित सनातन धर्म है। उसी का श्रुतियों और स्मृतियों में भी वर्णन है। रावण के बार-बार प्रार्थना करने पर भी सीता ने अवहेलना-सूचक वचन कहा है, वह भारतीय नारी के गौरव को सदा उद्घोषित करता रहेगा। इस निशाचर रावण से प्रेम

करने की बात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से, नहीं, नहीं, बायें पैर से भी नहीं छू सकती। पातिव्रत्य के प्रभाव से सुरक्षित सीता पर रावण को बलात्कार करने का साहस कभी नहीं होता था। उनका तेज ही रावण को हतप्रभ करने के लिये पर्याप्त था। केवल राम की आज्ञा के अभाव में और अपनी तपस्या के नष्ट करने के विचार से वह उसे भस्म नहीं कर रही थीं। रावण की मृत्यु के अनन्तर रामने सीता के चरित्र की विशुद्धि को सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिये अनेक कटु-वचन कहे। उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्म-स्पर्शी हैं, कि आलोचक का हृदय आनन्दातिरेक से गद्-गद् हो जाता है। सीता कहती हैं, मनुष्य उसी वस्तु के लिये उत्तरदायी हो सकता है, जिस पर उसका अधिकार हो। मैं अपने हृदत की स्वामिनी हूँ। यह सदा आपके चिन्तन में निरत रहा है। अंगो पर मेरा काबू नहीं। वे पराधीन ठहरे। रावण ने बलात्कार से उनका स्पर्श कर लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध है? मेरे चरित्र पर लाञ्छन लगाना कथमपि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को पकड़ कर आपने आगे किया है, पर मेरे सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का निर्बल अंश है—उसका स्त्रीत्व और उसका सबल अंश है, उसका पत्नीत्व तथा पातिव्रत्य नर-शार्दूल !

आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, परन्तु क्रोध के आवेश में आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के समान है। आपने मेरे स्त्रीत्व को तो दोषारोपण करने के लिये आगे किया है, परन्तु इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, कि बालकपन में ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया है, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्मपत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है, आप जैसे नर-शार्दूल ने मेरे स्वभाव को (भक्ति को) तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया।" इन सीधे सादे निष्कपट शब्दों में कितनी ओजस्विता भरी है। अनादृता भारतीय ललना का यह हृदयोद्गार कितना हृदय-बेधक है। सुनते ही सहृदय मनुष्य की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं। इस अग्नि परीक्षा से सफल होने पर भी जब सीता को पुनः

वनवास की आज्ञा मिलती है, लक्ष्मण उन्हें वाल्मीकि के आश्रम के समीप छोड़कर लौटने लगते हैं, तब वे राम के लिये उनसे कहती हैं—हे रघुनन्दन, तुमको भली भाँति ज्ञात है, कि तुम्हारी सीता शुद्ध चरित्रा हैं और सदा तुममें भक्ति रखती हुई तुम्हारा हित चाहती हैं। अतएव जिस प्रकार पुरवासियों का अपवाद छूटे, तुम वैसा ही करो। नारी के लिये उसका पति ही देवता है, पति ही उसका बन्धु है और पति ही उसका गुरु है।

इस प्रकार सीता का पति की अनन्यानुवर्तिता का दृश्य नितांत गौरवपूर्ण, मर्मस्पर्शी तथा परमदिव्य है। आदर्श जननीत्व नारी की चरम आराध्य परिणति है। बालकाण्ड के आरम्भ में पार्वती की मातृत्व निष्ठा में देवताओं के विघ्न के कारण अकृतकार्यता की कथा वर्णित है। पार्वती ने रुष्ट होकर उन्हें अपनी पत्नियों को गर्भित करने में असमर्थ हो जाने का शाप दिया है। पृथ्वी को भी हे भूमे! तू अनेक रूपवाली अनेकों की भार्या होगी। हे दुर्मेधे! मेरे पुत्र को न चाहती हुई और मेरे क्रोध से कलुषित हुई तू पुत्र प्राप्ति-प्रीति को न प्राप्त कर सकोगी। इस प्रकार शाप दे दिया। पत्नी के बन्ध्यात्व से देवगण अत्यन्त दु:खित हुए। वास्तव में विवाह का लक्ष्य ही उस समय सुयोग्य सन्तान का उत्पादन था। कुलीन परिवार की राजकुमारियाँ तपस्वियों और देवों से इसलिये विवाह सम्बन्ध चाहती थीं जिससे अच्छी संतति के जनन का उन्हें सौभाग्य सुलभ हो। राक्षस सुमाली ने अपनी पुत्रि से कहा, पुत्रि, तुम स्वयं महर्षि पुलस्त्य के पुत्र मुनिवर्य विश्रवा को अपना पति बनाओ। इससे तुम्हारे धनाधीश कुबेर जैसे पुत्र उत्पन्न होंगे, जो राक्षस जाति का सम्वर्द्धन करेंगे।

काम-बेसुध वायु ने जब वानरराज केशरी की पत्नी का सतीत्व-भंग किया। उस समय उसका विरोध, 'मेरे समान ही तेजस्वी, बुद्धिमान् और शीघ्रगामी पुत्र होगा, यह कहने पर शान्त हो गया। स्वेच्छाचार से होने वाली संतति तिरस्करणीय नहीं होती थी। इन्द्र के साथ स्वेच्छाचार से उत्पन्न अहल्या के पुत्र संतानंद जनक के राज पुरोहित दिखाई देते हैं। इससे स्पष्ट है, कि मातृत्त्व की महिमा से लोक जीवन अनुप्राणित था। शारीरिक दृष्टि से प्रजनन में

मातृ शक्ति का प्रभाव पूर्ण योग होता है। पिता तो पुत्र के जन्म में निमित्त मात्र होता है। कौसल्या और सुमित्रा आदर्श पत्नी के साथ आदर्श जननी भी हैं। पति-प्रेम और पुत्र-स्नेह का द्वन्द्व इन दोनों के समक्ष आता है। लेकिन दोनों इस कसौटी पर खरी उतरती हैं। एक का स्नेह दूसरे के लिये अवरोधक नहीं है।

राजनीति-परायण-राजकुमारियों को राजधर्म की उचित शिक्षा दी जाती थी। जिससे अपने पतियों के राजकीय कार्य में वे उचित योग देकर अपने को सच्ची सहधर्मिणी सिद्ध कर सकें। सीता के लिये "राजधर्म परायणा २।२६,४" कहा गया है। देवासुर संग्राम में कैकेयी का अपने पति के साथ जाना इसका स्पष्ट उदाहरण है। घोर युद्ध में अस्त्र शस्त्रों से जब महाराज दशरथ का शरीर अत्यन्त जर्जर हो गया था। उनकी चेतना लुप्त हो गयी थी। तब कैकेयी ने उन्हें युद्ध भूमि से दूर ले जाकर उनके प्राणों को बचाया था। बालि ने तारा की राजनीति तत्त्वज्ञता का हृदय से संस्तवन किया है। मंदोदरी भी रावण को उचित परामर्श देती है।

तपस्विनी नारी—तपस्विनी नारियों की कहानियों की परम्परा स्पष्ट दिखाई देती है। अत्रि मुनि ने धर्मचारिणी तपस्विनी अनूसूया की कठोर-तपस्या के अद्‌भुत प्रभाव का परिचय देते हुए राम से कहा, दस वर्षों तक वृष्टि नहीं हुई थी, संसार जलने लगा था, उस समय उसने फल-फूल उत्पन्न किया। गंगा को यहाँ बहाया। १० हजार वर्षों तक जिसने तपस्या की, जिसकी तपस्या उग्र है, उत्तम नियमों से सुशोभित है। अनसूया के व्रतों के प्रभाव से ही ऋषियों के विघ्न दूर हुए। देवकार्य के लिए त्वरा रखने वाली जिसने दस रात की एक रात बनाई, वे ये अनूसूया तुम्हारी माता के समान पूज्य हैं। श्रमणा शबरी सिद्ध माता सिद्धा हैं। उसने राम के दर्शन के पश्चात् कुशल पूछे जाने पर कहा, रघुनन्दन! आज आप का दर्शन मिलने से ही अपनी तपस्या में सिद्धि मिली है। आज मेरा जन्म सफल हुआ और गुरुजनों की उत्तम पूजा भी सार्थक हो गई। स्वयंप्रभा भी ऐसी ही तपस्विनी नारी है। वेदवती अपने

वेदाभ्यास व्रती पिता की आदर्श-तपस्विनी पुत्री है। इस प्रकार तपस्विनियों की आदर्श-ज्योति आदिकाव्य में पूर्णतया भास्वर है।

नारी की आर्थिक स्थिति—

नारी की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नारी को कुछ विशेष सम्पति की अधिकारिणी होने का भी प्रमाण मिलता है। कौसल्या को ग्रामादि की कुछ विशेष सम्पत्ति मिली थी। जिसकी ओर संकेत लक्ष्मण ने वनवास के प्रसंग में किया है। रावण ने राज्य का सर्वाधिकारी बनाने का सीता को प्रलोभन दिया है।

विधवा—

आर्यों में विवाह सम्बन्ध की अविच्छेद्यता के कारण पुनर्विवाह का समर्थन नहीं मिलता है। सीता ने लक्ष्मण से जो यह कहा है, कि तुम चाहते हो राम मर जायें, जिससे तुम मुझको पा सको, इस उक्ति को लेकर जर्मन विद्वान् श्री जे० जे० मेयर ने यह अर्थ ग्रहण किया है, कि आर्यों में विधवायें अपने देवर को वरण कर लेती होंगी। अन्यथा राम की मृत्यु के पश्चात, लक्ष्मण द्वारा ग्रहण किये जाने की आशंका सीता को क्यों होती ? पर उक्त शंका सीता के उत्कृष्ट दु.ख के आवेश को ही सूचित करती है। लंका के युद्ध में दो बार राम को मरा हुआ मान कर सीता ने विलाप किया है, पर देवर द्वारा गृहीत होने की संभावना नहीं व्यक्त की है। अतः आर्य विधवाओं का जीवन ऐकान्तिक और साधना पूर्ण ही चित्रित हुआ है।

राक्षसों में विधवायें विधि पूर्वक विवाह अथवा स्वेच्छा संसर्ग से पति को वरण कर लेती थी। रावण की भगिनी विद्युज्जिह्व के मृत्यु के कारण विधवा थी। इसने राम से प्रेम का प्रस्ताव किया है। रावण अनेक स्त्रियों के पतियों को मार कर छीन लाया था। उसके मरने के बाद मन्दोदरी ने विभीषण का आश्रय प्राप्त किया। मांगलिक-अवसरों पर विधवायें अशुभ सूचक नहीं समझी जाती थीं। अयोध्या परिवार में सुमित्रा, कौसल्या आदि के चरित्र से यह स्पष्ट होता है।

वेश्यायें—

कुछ स्त्रियाँ नृत्य कला में प्रवीण होती थीं। वे वेश्यावृत्ति से जीवन निर्वाह करती थीं। ऐसी ही नारियों ने ऋष्यश्रृङ्ग और विश्वामित्र को लुब्ध किया था। इनका राजपरिवार से सम्बन्ध होता था। राजकीय समारोहों में इनकी सेवायें स्वीकृत की जाती थीं। दशरथ ने सुमन्त्र से कहा है कि, राम के साथ वन में एक चतुरंगिणी सेना भेजने की व्यवस्था की जाय। जिसमें मधुर भाषिणी वेश्यायें भी हों। इससे जान पड़ता है, कि ये राजकीय मनोरंजन का साधन थीं।

स्त्री-बध

स्त्रियों की हत्या को निन्दित कर्म समझा जाता था। राम ताड़का को स्त्री समझ कर पहले नहीं मारना चाहते थे। उनकी इच्छा थी, कि कुरूप करके छोड़ दिया जाय। लक्ष्मण ने शूर्पणखा को स्त्री समझ कर कुरूप कर देना ही उचित समझा था। उस अवसर पर उन्हें अपने बड़े भाई की आज्ञा प्राप्त हो चुकी थी। शूर्पणखा ने भी रावण से कहा था, कि राम स्त्री बध से डरते हैं, नहीं तो मुझे मार डालते। राजा लोग विशेष परिस्थिति में स्त्री बध कर सकते थे।

बहु-विवाह

बहु-विवाह की प्रथा के कारण कौटुम्बिक कलह तथा नारी अपहरण की घटनायें नारी के अपमान का कारण बन रही थीं। राम ने एक पत्नीव्रत धर्म की आदर्श प्रतिष्ठा द्वारा लोकमंगल का पथ प्रशस्त बनाया।

स्त्रियों को प्राथमिकता—वाहनों और नावों आदि में चढ़ने के समय स्त्रियों को प्राथमिकता दी जाती थी। वन जाते समय पहले सीता सवार हुयीं थीं, तथा गंगा-तट पर नाव में भी पहले सीता ही बैठी थीं। यज्ञादि पूर्ण-समारोहों में पुरुष के साथ नारी की उपस्थिति आवश्यक थी। राजा दशरथ की रानियों ने अश्वमेध यज्ञ में भाग लिया था। सीता की अनुपस्थिति मे उनकी स्वर्ण मूर्ति को साथ रखा गया था।

इस प्रकार समस्त जीवन में नारी जीवन की पूर्णता का प्रतीक बनी दिखाई देती है। रामायण में उनकी महनीयता-पूर्ण-परिचय कराया गया है।

आदिकाव्य में भक्ति-भावना

वाल्मीकि के आदिकाव्य के संबंध में विद्वानों में मत भेद है। बाल काण्ड और उत्तर काण्ड को कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त मानते हैं। राम के ईश्वरत्व का निर्देश करने वाली उक्तियों को प्रक्षिप्त कहा गया है। पर कथा-प्रवाह की संगति का ध्यान रखने पर इतना प्रक्षेप स्वीकृत नहीं किया जा सकता है। अपने चरित नायक के अलौकिकत्व अथवा अपूर्वत्व के प्रति कवि की आस्था काव्य में सर्वत्र व्यक्त हुई है। समस्त आदर्श-पात्रों में राम के प्रति सेव्यनिष्ठा स्पष्ट मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है, कि वेदों में सर्वसृष्टिव्यापी जिस चिरन्तन-अस्तित्व की ओर बार-बार संकेत किया गया तथा इन्द्र-वरुण आदि की अपेक्षा जिस विष्णु-तत्व की हृदय से संस्तुति की गई है, उसे लोकमङ्गलादर्श के प्रतिष्ठापक मानव-साधना संकल्प की पूर्णता के साथ कवि ने परिदर्शित किया है। काव्यारंभ की जिज्ञासा में ही आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक समस्त विभूतियों का एकत्र दर्शन राम में मिल जाता है।

काव्य के आरम्भ में ही लोक-कंटक रावण के उत्पीडन-जन्य-हाहाकार का दर्शन मिलता है। ऋषि-मुनि-गन्धर्व-देवता आदि लोकस्रष्टा ब्रह्मा से अत्यन्त भय-भीत होकर यह प्रार्थना करते हैं, कि उस घोर-दर्शन राक्षस से हमलोगों को अत्यन्त भय है, इसलिए उसके वध के लिए उपाय करना आप को उचित है। इसी समय शंख-चक्र-गदा हाथ में लिए हुए, पीताम्बरधारी, महान् तेजस्वी, संसार के स्वामी विष्णु वहाँ पहुँचे। उनसे भी विनयपूर्वक लोग बोले, हे शत्रुतापन, आप हम लोगों के महान् देव हैं, अंतिम-शरण हैं। मनुष्य लोक में देव शत्रुओं के वध की ओर ध्यान दीजिए। विष्णु ने कहा,

आप भय को त्याग दें, आप लोगों का मंगल हो सबके हित के लिए पुत्र-पौत्र मंत्रि-मित्र, ज्ञाति-बन्धु के सहित क्रूर, दुष्टात्मा, देवर्षियों के लिए भयंकर रावण को मारकर मैं दस हजार वर्ष तक इस पृथ्वी का पालन करते हुए मनुष्य लोक में निवास करूँगा।

विष्णुदेव की अनन्त-शक्ति की संस्तुति ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में मिलती है। ऋषि ने कहा है, उस विष्णु के उत्कृष्ट स्वरूप को विद्वान् सदा देखते हैं; जैसे आकाश में सब ओर से विस्तार पाये हुए सूर्य्य को देखते हैं। मै निश्चय रूप से विष्णु की किन किन शक्तियों को कहूँ, जिन्होंने पृथ्वी के कण-कण को मापा है। जिन्होंने सबसे ऊँचे, स्थानों के (नक्षत्रादि) सहित सबको सँभाला है। जो अपने एक पाद को तीन प्रकार (वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ) का करके इस जगत (स्थल, सूक्ष्म तथा कारण रूप) को मापने वाले और बड़ी प्रशंसा वाले हैं। विष्णु के उन कर्मों को देखो, जिन्हें उन्होंने मनुष्यों के लिए अवश्य-करणीय बनाया है, क्योंकि इन्द्रियों के स्वामी जीव के वही योग्य मित्र हैं।

महर्षि कवि ने शील-भक्ति और सौन्दर्य की अप्रतिम-अपरिमेय चारुता के साथ मानव रूप राम में उसी वैष्णव-संकल्प का मनोरम एवम् प्रभविष्णु-प्रत्यक्ष कराया है। रावण समस्त सृष्टि को उत्पीड़ित तथा आतङ्कित करने वाला घोर-तामस-प्रकृति का दुर्नय है। उसके लिए अनेक बार महाकवि ने "रावणः लोकरावणः" कहा है। महाराज दशरथ के पुत्रेष्टि-यज्ञ के अवसर पर देवताओं ने ब्रह्मा जी से यह निवेदन किया—आपके वरदान से मोहित होकर वह इतना उद्दण्ड हो गया है कि ऋषियों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों तथा ब्राह्मणों का अपमान करता फिरता है। सूर्य उसको ताप नहीं पहुँचा सकते, हवा उसके पास वेग से नहीं चलती। जिसकी उत्ताल-तरंगें सदा ऊपर-नीचे होती रहती हैं, वह समुद्र भी रावण को देखकर भय से स्थिर सा हो जाता है। वह राक्षस देखने में बड़ा भयंकर है। उससे हम लोगों को बहुत बड़ा भय उपस्थित हुआ है। इस-लिए भगवन्! उसके वध का कोई न कोई उपाय अवश्य करें। ब्रह्मा जी ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा, कि मनुष्यों को तो वह तुच्छ समझता था, इसलिए

उनसे अवध्य होने का वरदान उसने नहीं माँगा। अतः अब मनुष्य के हाथ से उसका वध होगा। इसी समय महान् तेजस्वी, जगन्नायक भगवान् विष्णु भी गरुड़ पर सवार हो वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीर पर पीताम्बर और हाथों में शङ्ख, चक्र एवम् गदा आदि आयुध शोभायमान थे। ब्रह्मा ने कहा, प्रभो, अयोध्या के राजा दशरथ महर्षियों के समान तेजस्वी हैं। उनकी तीन रानियाँ हैं, जो ह्री, श्री और कीर्ति के समान हैं। आप अपने चार रूप बनाकर उन तीनों के गर्भ से पुत्र रूप में अवतार धारण कीजिए। इस प्रकार मनुष्य रूप में प्रकट होकर आप संसार के कण्टक रूप रावण का, जो देवताओं के लिए अवध्य हो रहा है, वध कीजिये। इस प्रकार रामायण की आरंभिक भूमिका में विष्णु की मानव रूप में परिणति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उपसंहार में मानवता की प्रतिष्ठा में विष्णुत्व-विस्मृत राम को तापस वेषधारी काल के द्वारा ब्रह्माजी ने विष्णुत्व की स्मृति इस प्रकार दिलाई है—आप पूर्वकाल में माया द्वारा लोक का संहार कर महासागर में सोये थे, उसी समय मैं उत्पन्न किया गया। आप ने अपनी नाभि से सूर्य के समान, एक कमल उत्पन्न किया गया। उससे मुझे उत्पन्न किया और मुझे प्रजा की उत्पत्ति का कार्य सौंपा। ब्रह्मा ने स्वयं प्रकट होकर संतुति करते हुए कहा, आप चाहे विष्णु के शरीर में अथवा इस सनातन आकाश रूपी निज शरीर में प्रवेश करें। हे देव! आप ही समस्त लोकों की गति हैं। आपको कोई नहीं जानता। महामति श्रीरामचन्द्र जी ब्रह्मा जी की स्तुति को सुन तथा विचार कर वैष्णवी तेज में भाइयों के सहित सशरीर प्रविष्ट हो गये। विश्वामित्र जी जब राजा दशरथ के यहाँ रामचन्द्र जी को साथ ले जाने के लिए निवेदन करते हैं, तब वे उनकी दुर्ज्ञेय महिमा का परिचय देते हुए कहते हैं – सत्यपराक्रमी महात्मा राम को मैं जानता हूँ। ये महातेजस्वी वशिष्ठ जी तथा अन्य तपस्वी भी जानते हैं। रामचन्द्रजी के द्वारा धनुष चढ़ाये जाने पर ऋषियों सहित देवताओं ने शिवधनु को शिथिल देखकर विष्णु को अधिक बली समझा, तदनन्तर विष्णु की पूजा करके तथा शिव को आश्वासन देकर ब्रह्मा, इन्द्रादि के सहित सब स्वर्ग को गये। अयोध्या काण्ड के

आरंभ में राम के विष्णुत्व की प्रतीति कराने के लिए कवि ने स्पष्ट लिखा है— बढ़े हुए रावण के वध की इच्छा रखने वाले देवताओं की प्रार्थना से स्वयं सनातन विष्णु ही मनुष्य लोक में रामरूप में प्रकट हुए। मारीच भी रावण को साव-धान करते हुए कहता है— जनक किशोरी सीता जिनकी धर्मपत्नी हैं, उनका तेज अपरिमेय है। श्रीरामचन्द्र बड़े तेजस्वी, महान् आत्मबल से सम्पन्न तथा अधिक बलशाली हैं, वे समस्त राक्षस-जगत का भी संहार कर सकते हैं। यह निश्चित समझो, कि श्रीराम के सामने जाकर उनकी दृष्टि पड़ते ही मैं मारा जाऊँगा और यदि तुमने सीता का हरण किया, तो तुम अपने को भी बन्धु-बान्धवों सहित मरा हुआ ही मानो। तारा बालि को समझाती हुई श्रीरामचन्द्र की अतुल महिमा का परिचय देती हैं—श्री रामचन्द्र शत्रु-सेना को नष्ट करने में उठी हुई प्रलय की अग्नि के समान हैं। वे साधुओं के आश्रयदाता तथा पीडितों के रक्षक हैं। दुःखियों के आश्रयस्थल एवम् यश के भाजन हैं। हनुमान जी भी रावण की भ्रान्ति को दूर करने के लिए कहते हैं—सचराचरसमस्त प्राणियों को विनष्ट कर यशस्वी राम पुनः वैसी सृष्टि करने की शक्ति रखते हैं। ब्रह्मा स्वयम् चतुरानन त्रिपुरान्तक त्रिनेत्र रुद्र, सुरनायक महेन्द्र इन्द्र, ये कोई भी युद्ध में रामचन्द्र के सामने नहीं ठहर सकते। जटायु का दाह-संस्कार करते समय श्रीराम ने स्वयं अपनी दिव्य शक्ति का परिचय देते हुए कहा है - महान् बलशाली गृध्र राज! यज्ञ करने वाले, अग्निहोत्री, युद्ध में पीठ न दिखाने वाले और भूमिदान करने वाले पुरुषों को जिस गति अर्थात् जिन उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है, मेरी आज्ञा से उन्ही 'सर्वोत्तम लोकों' में तुम भी जाओ। मेरे द्वारा दाहसस्कार किये जाने पर तुम्हारी सद्गति हो।

राम की इस सृष्टि-रक्षण-कारिणी महनीयता के अनुरूप उनकी महत्त्वा-नुभूति की मंगलमयी व्यंजना भी काव्य के आरम्भ से ही मिलती है। सेवा भाव की शरणागति, समर्पण की अनन्यता और निवेदन की अभिन्न-आत्मीयता की भक्ति-त्रिवेणी सहृदय की सद्भावनाओं को शक्ति की अपूर्व चारुता प्रदान करती है। काव्यारंभ में त्रिलोकव्यापी रावण के उत्पीडन से संरक्षण की आश्वा-

सन-प्राप्ति के लिए देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि गण भगवान् विष्णु की शरण में आकर इस प्रकार निवेदन करते हैं। वह मूर्ख राक्षस रावण अपने बल के अभिमान से देव, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षियों को अत्यन्त पीडित करता है। उस क्रूर रावण ने नन्दनवन में क्रीड़ा करते हुए बहुत से ऋषि, गन्धर्व और अप्सराओं को मार डाला। हे प्रभो! उसके नाश के लिए ही हम मुनियों के सहित सिद्ध, गन्धर्व और यक्ष आप की शरण में आये हैं। हे शत्रुनाशक विष्णो! आप ही हम सब लोगों की परम गति हैं।

युवक भरत गला भर जाने से कल हंस के समान घर्घर स्वर से विलाप करने और पुरोहित वशिष्ठ की निन्दा करने लगे। बोले, मैं और यह राज्य राम के हैं। अतएव आप धर्म का उपदेश अर्थात् रामचन्द्र राज्य ग्रहण कैसे करेंगे, इसका उपाय बतलाइए। यहाँ रहकर भी वन में रहने वाले रामचन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ। वनस्थली में भरत जी रामचन्द्रजी से कहते हैं—मैं आप का भाई, शिष्य और सेवक हूँ, आप मुझ पर दया करें। पिता के आदेश पर रामचन्द्रजी को अविचल देख कर भरत ने अपनी विनय-भक्ति का परिचय देते हुए कहा—आर्य, यह सुवर्ण मण्डित पादुकायें आप पैरों में पहनें, यही, सब लोगों का योगक्षेम करेंगी। नरश्रेष्ठ, रामचन्द्र ने खड़ाऊँ पहनली और उतार कर भरत जी को देदी। पादुका को प्रणाम कर भरत जी ने कहा—चौदह वर्षों तक मैं जटा और चीर धारण करूँगा। फल-मूल खाऊँगा, नगर के बाहर रहूँगा, इस प्रकार तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा करूँगा। तदनन्तर रामचन्द्र की पादुका सिर पर रख कर प्रसन्न भरत शत्रुघ्न के साथ रथ पर बैठे। अयोध्या में आने पर भरत जी ने अग्रज-चरण पादुका-भक्ति का जो आदर्श उपस्थित किया। उससे हमारी संस्कृति की चरमोज्ज्वलता चिर स्थायी हो गई। बल्कल, जटा धारण कर भरत ने, मुनिवेष बनाया। धीर भरत अपनी सेना के साथ वहीं नन्दिग्राम में रहने लगे। भरत राज्य का समस्त शासन-सम्बन्धी कार्य पादुका को निवेदित कर देते थे और उन्होंने स्वयं उस पर छत्र और चंवर धारण किया। रामचन्द्र की पादुका का अभिषेक कर तथा स्वयं उसके अधीन

होकर भरत राज्य पालन करने लगे। जब कोई कार्य उपस्थित होता था, अथवा जो कुछ श्रेष्ठ भेंट आती थी, वह सब पहले भरत पादुका को निवेदित करते थे, पुनः उसका यथोचित प्रबन्ध कर देते थे। यह है भरत की विनय-भक्ति की मूर्त्ति, जिसमें निश्छल विश्वास की ज्योति जगमगा रही है।

वनवास-यात्रा के अवसरपर लक्ष्मण जी रामचन्द्र जी की सेवा-भक्ति का निश्चय इस प्रकार व्यक्त करते दिखाई देते हैं—'आप मुझे अपना अनुचर बनायें, इसमें कोई अनौचित्य नहीं है, मेरी इच्छा पूरी होगी और आप के लिये भी मैं फल फूल लाया करूँगा। वन के फल-फूल तथा तपस्वियों के हवन की सामग्री भी आप के लिए प्रतिदिन लाया करूँगा। आप वैदेही के साथ पर्वत के शिखरों पर विहार कीजिएगा। आप के जागते-सोते मैं सब काम किया करूँगा।

अरण्य-काण्ड में भक्ति की तरल धारा प्रवाहित मिलती है। आश्रम की दिव्य-शान्ति की ज्योति से भगवान् राम स्वयं सात्विक भावना की भक्ति से परिपूर्ण हो जाते हैं। महातेजस्वी श्रीराम ने उस आश्रम-मण्डल को देखकर अपने महान् धनुष की प्रत्यञ्चा उतार दी, फिर वे आश्रम के भीतर गये। तपस्वियों ने उचित आतिथ्य के साथ अपनी अतुल राज भक्ति का परिचय देते हुए कहा दण्ड को धारण करने वाला राजा धर्म का पालक, महायशस्वी, जन-समुदाय को शरण देने वाला माननीय, पूजनीय और सबका गुरु होता है। हम आपके राज्य में निवास करते हैं। अतः आप को हमारी रक्षा करनी चाहिए। आप नगर में रहें या वन में हम लोगों के राजा ही हैं। विराध राक्षस राम के अवतारत्व की संस्तुति करते हुए कहता है—मुझे शाप के कारण इस भयंकर राक्षस शरीर में आना पड़ा था। मैं तुम्बुरु नामक गन्धर्व हूँ। कुबेर ने मुझे राक्षस होने का शाप दिया था। जब मैंने उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा की, तब वे महायशस्वी कुबेर मुझसे इस प्रकार बोले—गन्धर्व! जब दशरथनन्दन श्रीराम युद्ध में तुम्हारा वध करेंगे, तब तुम अपने पहले स्वरूप को प्राप्त कर स्वर्गलोक को जाओगे। आपका कल्याण हो, अब मैं अपने

लोक को जाऊँगा। महामुनि शरभङ्ग आतिथ्य पूर्वक श्रीराम से यह निवेदन करते हैं—हे पुरुष सिंह, जब मुझे यह ज्ञात हुआ, कि आप आश्रम के निकट आ गये हैं, तब मैंने निश्चय किया, कि आप जैसे प्रिय अतिथि का दर्शन किये बिना मैं ब्रह्मलोक को नहीं जाऊँगा। आश्रम के ऋषि-संघ ने दैन्य दर्शन के साथ अपनी पूर्ण भक्ति-निष्ठा का इस प्रकार परिचय दिया—हे नाथ! आप महात्मा धर्मज्ञ और धर्मवत्सल हैं। हम आप के पास प्रार्थी होकर आये हैं, स्वार्थ की बात का निवेदन करना चाहते हैं। आप को इसके लिए हमें क्षमा करनी चाहिये। आइये, देखिये, ये भयंकर राक्षसों द्वारा बारंबार अनेक प्रकार से मारे गये बहुसंख्यक पवित्रात्मा मुनियों के शरीर दिखायी देते हैं। पम्पा सरोवर और उसके निकट बहने वाली तुङ्ग भद्रा नदी के तट पर जिनका निवास है, जो मंदाकिनी के किनारे रहते हैं तथा जिन्होंने चित्रकूट पर्वत के किनारे अपना निवास स्थान बना लिया है, उन सभी ऋषि-महर्षियों का राक्षसों द्वारा महान् संहार किया जा रहा है। अतः इन राक्षसों से बचने के लिए शरण लेने के उद्देश्य से हम आपके पास आये हैं। श्रीराम, आप शरणागत वत्सल हैं, अतः इन निशाचरों से मारे जाते हुए हम मुनियों की रक्षा कीजिये। वीर राजकुमार! इस भूमण्डल में हमें आप से बढ़ कर दूसरा कोई सहारा नहीं दिखाई देता। आप इन राक्षसों से हम सबको बचाइये। मुनिवर शरभंग की भाँति महामुनि सुतीक्ष्ण ने श्रीराम के प्रति अपनी भक्ति-भावना का परिचय देते हुए कहा-- महायशस्वी वीर! मैं आप की ही प्रतीक्षा में था, इसीलिये अब तक इस पृथ्वी पर अपने शरीर को त्याग कर मैं, यहाँ से देवलोक में नहीं गया। अगस्त्य मुनि के शिष्य से लक्ष्मण जी ने स्वयं अपने को राम का परिचय देते हुए उनका भक्त कहा है—मैं उनका छोटा भाई 'हितैषी' और अनुकूल चलने वाला भक्त हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है। सम्भव है, यह नाम कभी आपके कानों में पड़ा है। अगस्त्य मुनि के समक्ष श्रीराम की भक्त-मूर्ति का इस प्रकार दर्शन मिलता है—जिनमें योगियों का मन रमण करता है, अथवा जो भक्तों को आनंद प्रदान करने वाले है, वे धर्मात्मा श्रीराम उस

समय विदेहकुमारी सीता और लक्ष्मण के साथ महर्षि के चरणों में प्रणाम कर हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। महर्षि ने भी अपनी भक्ति-निष्ठा का परिचय इस प्रकार दिया। आप प्रिय अतिथि के रूप के इस आश्रम पर पधारे हैं, अतएव हमलोगों के माननीय एवम् पूजनीय हैं। ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्य ने फल, फूल तथा अन्य उपकरणों से इच्छानुसार रामचन्द्र जी का पूजन किया।

शरणागत-वत्सलता

रामचन्द्रजी के द्वारा फेंके हुए कुश-रूप-ब्रह्मास्त्र से आक्रान्त हो, जब इन्द्र-पुत्र जयन्त तीनो लोकों में घूमकर पुनः उनकी ही शरण में आया और भूमि पर गिर पड़ा, तब शरणागत वत्सल राम ने वधयोग्य उस काक की रक्षा की। लक्ष्मण जी के द्वारा भयभीत सुग्रीव की शरणागत-भक्त-मूर्ति का दर्शन रामचन्द्र जी के समक्ष इस प्रकार प्राप्त होता है। राम को पाकर उन्होंने हाथ जोड़ा। सुग्रीव के हाथ जोड़े खड़े रहने से वानरों ने भी हाथ जोड़े। मुकुलित कमलों से युक्त तालाब के समान वानरों की उस बड़ी सेना को देखकर रामचन्द्र सुग्रीव पर प्रसन्न हुए। पैरों पर सिर रखे हुए सुग्रीव को उठाकर प्रेम और आदर से रामचन्द्र ने उनका आलिंगन किया। आलिंगन करने के पश्चात् धर्मात्मा रामचन्द्र ने कहा, कि बैठो।

हितभाषण के कारण रावण से तिरस्कृत विभीषण सुग्रीव के पास रामचन्द्रजी की शरण-प्राप्ति के लिए इस प्रकार निवेदन करता है—रावण ने हित कहने के कारण मुझे कठोर वचन कहे और दासों के समान उसने मेरा अपमान किया, इसी से पुत्रों और स्त्रियों को छोड़कर मैं रामचन्द्र की शरण आया हूँ। सब प्राणियों को शरण देने वाले महात्मा रामचन्द्र से कहो, कि विभीषण आया है। सुग्रीव को संदेह हुआ, परन्तु रामचन्द्रजी ने अपनी शरणागत-वत्सलता के विश्वास को इस प्रकार व्यक्त कर उनकी भ्रान्ति को दूर किया—वानर श्रेष्ठ, यदि मैं चाहूँ तो पृथ्वी के पिशाचों, दानवों, यक्षों और राक्षसों को अँगुली के इशारे से मार सकता हूँ। परंतप, दीनतापूर्वक हाथ जोड़कर शरण चाहते हुए शत्रु को भी दया के लिए नहीं मारना चाहिये।

जो शरण में आकर एक बार भी "मैं तुम्हारा हूँ" कह देता है, उन समस्त प्राणियों को मैं आश्रय देता हूँ। यह मेरा व्रत है, मेरा नियम है। वानर श्रेष्ठ उसको तुम ले आओ। सुग्रीव, वह विभीषण हो या स्वयं रावण हो, मैंने उसे आश्रय दिया। धर्मात्मा विभीषण रामचन्द्र के समक्ष उतरा। चारों राक्षसों के साथ रामचन्द्र के चरणों पर गिर पड़ा और इस प्रकार बोला—मैं रावण का छोटा भाई हूँ, उसने मेरा अपमान किया है। आप सब प्राणियों को शरण देने वाले हैं, मैं आपकी शरण आया हूँ। मैंने लङ्का छोड़ दी, मित्रों और धन को छोड़ दिया। अब मेरा राज्य, जीवन और सुख आपके ही अधीन है। प्रेम पूर्ण आँखों से देखते हुए रामचन्द्र ने वचनों से उसे धैर्य दिया। रामचन्द्र जी की शरणागत-वत्सलता का का यह अनुपम चित्र है।

भक्ति की विनय-मूर्ति 'शबरी'

राम लक्ष्मण को देखकर हाथ जोड़े हुई, सिद्धाशबरी ने उठ कर बुद्धिमान् रामलक्ष्मण के चरणों का स्पर्श और यथाशास्त्र पाद्य, आचमन के साथ उनका आतिथ्य-सत्कार किया। वह बोली—'आज आपके दर्शन से मैंने अपनी तपस्या की सिद्धि को प्राप्त किया। आज मेरा जन्म सफल हुआ और गुरुजन भलीभाँति पूजित हुए। हे शत्रुनाशन! आप की कृपा से मैं अक्षय लोकों को प्राप्त करूँगी। जहाँ वे पुण्यात्मा महर्षि-जन विहार करते हैं, आत्मा की समाधि से शबरी उसी पुण्य-स्थान को गई।

आराधनामयी अचला-भक्ति सीता—अशोक-वाटिका में जब रावण ने आकर सीताजी को नितान्त भय-त्रस्त कर दिया, उस समय हनुमान् जी वहाँ उपस्थित थे। सीताजी को प्रबल-शोक से चेतनाहीन होते देखकर उन्होंने रामचन्द्र जी का परिचय इस प्रकार देना प्रारंभ किया, जिससे सीताजी उसे सुन सकें। सीताजी ने हनुमान जी की ओर देखा। रावण की क्रूरता से परम आतङ्कित होने के कारण वे स्वप्न की समाधि में सोचने लगीं। मैं राम ही को सदा अपने मन में सोचा करती हूँ, मुँह से राम राम कहा करती हूँ, इसी से अपने विचारों के अनुरूप यह वचन सुन रही हूँ तथा देख रही हूँ।

मैं सर्वात्मना रामचन्द्र की हूँ। अतएव मानसिक अभिलाषाओं के द्वारा पीड़ित हो रही हूँ। सदा रामचन्द्र के सम्बन्ध की बातें सोचने से मैं ऐसा देख और सुन रही हूँ। यह सीता जी की अचला भक्ति-मूर्ति है। निराला जी ने "तुम और मैं" शीर्षक कविता में लिखा है—

तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला-भक्ति।

हनुमान् जी सेव्य-सेवक भक्ति के महनीय आदर्श है! रावण की लंका में उनकी इस विजयिनी भक्ति-साधना का स्वर सर्वत्र फैल गया-अतिबली रामचन्द्र की जय, महाबली लक्ष्मण की जय, रामचन्द्र द्वारा पालित सुग्रीव की जय। अक्लिष्टकर्मा कोशलेन्द्र रामचन्द्र का मैं दास हूँ। मैं वायुपुत्र हनुमान् हूँ और शत्रुसेना का नाश करने वाला हूँ। सहस्रों रावण युद्ध में मुझसे बली नहीं हो सकते, जबकि मैं पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करता हूँ। लका पुरी को नष्ट कर जानकी को प्रणाम कर तथा अपना मनोरथ पूर्ण कर सब राक्षसों के देखते-देखते मैं यहाँ से जाऊँगा। लंका के लिए प्रस्थान करते समय भी हनुमान जी ने अपने भक्तिमय हृदय की भावुकता का परिचय दिया है—सूर्य, इन्द्र, स्वयम्भू, वायु तथा अन्य सब प्राणियों को हाथ जोड़ कर हनुमान ने जाने की इच्छा की। पूर्व मुँह होकर अपने पिता पवन को प्रणाम किया। हनुमान जी के भक्तिभावुक हृदय का विश्वस्त परिचय सीता जी को भी स्वप्न-समाधि में ही हो गया है। वे कहती हैं:—इस वानर ने मेरे सामने इन्द्र, बृहस्पति, स्वयम्भू और अग्नि के लिए जो नमस्कार कहा है, वह सत्य हो, असत्य नहीं। इस प्रकार महावीर मारुति की भक्ति-निष्ठा की स्पष्ट प्रतीति मिलती है।

माता कौसल्या—

रामचन्द्र जी की वन-यात्रा के समय कौसल्या की भक्ति-निष्ठा में युगजीवन की महत्वानुभूति का नितान्त मर्मस्पर्शी परिचय मिलता है, वे सर्वत्र चैतन्य ज्योति का दर्शन करती हैं और अपने प्रिय पुत्र के मंगल के लिए प्रकृति,

परम्परा और इतिहास के प्रत्येक स्तर से प्रार्थना करती दिखाई देती हैं। उनकी प्रार्थना की इन ध्वनियों में उनके भक्तिमय हृदय का पूर्ण परिचय मिल जाता है - समित्, कुश, पवित्र वेदियाँ, देवस्थान, ब्राह्मणों के चबूतरे, पर्वत, वृक्ष, पौधे, तालाब, पतंग, सूर्य तथा सिंह अर्थात् इनके अधिष्ठाता देवता तुम्हारी रक्षा करें साध्य, विश्वेदेव, मरुत और महर्षि तुम्हारा कल्याण करें, विराट्, ब्रह्मा, पूषन्, देव, भग और अर्यमा तुम्हारा कल्याण करें। शुक्र, चन्द्रमा, सूर्य, कुबेर तथा यम दण्डकारण्य में रहने के समय मेरे द्वारा अर्चित होकर तुम्हारी रक्षा करें। लोक प्रभु ब्रह्मा, जगत् कारण ब्रह्म, ऋषि यथा अन्य नित्य देवता बनवास के समय तुम्हारी रक्षा करें। इस प्रकार कहकर यशस्विनी कौसल्या ने माल्य, गन्ध तथा अनुरूप स्तुतियों से देवताओं की पूजा की। इतना ही नहीं क्रूर प्राणियों से पुत्र की रक्षा के संकल्प से वे उनकी पूजा का व्रत ग्रहण करती दिखाई देती है, मनुष्य का मांस खाने वाले अन्य भयानक जन्तु भी तुमसे द्वेष न करें, क्योंकि मैं सदा उन सबकी पूजा करूँगी। इस प्रकार कौशल्या जी का हृदय सृष्टि की समस्त पूज्यशक्तियों के प्रति भक्तिपूर्ण भावुकता से आपूर्ण दिखाई देता है।

राज-भक्ति—

जब रामचन्द्रजी अयोध्या से अरण्य के लिए प्रस्थान करते हैं, उस समय अयोध्या की प्रजा में भक्तिपूर्ण-भावुकता का करुणासमुद्र निस्सीम रूप में उमड़ने लगा है। रामचन्द्र के जाने पर नगरवासियों के आँसू से राह की धूलि बैठ गई। वह नगर रामचन्द्र जी के जाने से बहुत ही दुःखी हो गया। सब लोग रोने लगे, खिन्न हो गये, हाहाकार करने लगे और बेहोश से हो गये। आपस में कहने लगे—जो अपनी माता कौसल्या के साथ जैसा व्यवहार करता है, वैसा ही हम लोगों के साथ भी करता है, वह महात्मा कहाँ जाता है! कैकेयी के कहने से राजा ने उसे वन भेज दिया, वह हमारा अथवा समस्त जगत् का रक्षक कहाँ जा रहा है? बच्चे माताओं को, पति-स्त्रियों को, भाई-भाई को

भूलकर केवल राम को ही सोचने लगे। ब्राह्मण-वर्ग इस प्रकार प्रार्थना करते दिखाई दे रहे हैं—जंगम और स्थावर सभी प्राणी आप में भक्ति रखते हैं, वे आप से लौट चलने की प्रार्थना करते हैं, वे आप में प्रेम करते हैं, आप भी उनमें अपना प्रेम दिखलायें। मूल के कारण इन वृक्षों में वेग नहीं है। ये चल नहीं सकते, अतएव आप के साथ जाने में असमर्थ हैं, पर ऊँचे वृक्ष वायुवेग के कारण मानो चिल्ला रहे हैं। वायुवेग के कारण जो शब्द हो रहा है, मानो वृक्ष उस शब्द से आपको लौटने के लिए कह रहे हैं। ये पक्षी भी निश्चेष्ट हो रहे हैं, केवल आहार के लिए चलते फिरते हैं और एक ही वृक्ष पर रहना उन्होंने निश्चित कर लिया है, ऐसे ये पक्षी भी सब प्राणियों पर दया करने वाले आप से लौट चलने की प्रार्थना करते हैं। नागरिक-जन अपनी भक्ति भावना के अनुरूप यह सोचते हैं—

रामचन्द्र जिस वन में या जिस पर्वत पर जायेंगे, वे अपने यहाँ आये, प्रिय अतिथि के समान उनकी पूजा किये बिना न रहेंगे। जहाँ रामचन्द्र हैं, वहाँ भय कैसा और शत्रु द्वारा होने वाला पराजय कहाँ? वे हम लोगो के स्वामी हैं, हम सबकी गति हैं और अन्तिम स्थान हैं। साँवले रामचन्द्र का मुँह चन्द्रमा के समान सुन्दर है, उनके कन्धे की हड्डी छिपी हुई है, वे शत्रुओं का दमन करने वाले हैं, उनकी भुजायें लम्बी हैं, कमल के समान उनकी आँखे हैं। आगन्तुक प्रार्थियों से पहले ही बोलते हैं। सरल-स्वभाव से सत्यवादी और महाबलवान हैं; वे सौम्य तथा सब लोगों को चन्द्रमा के समान प्रिय-दर्शन हैं। गङ्गातट पर पहुँचते ही राम-भक्त निषादराज गुह का दर्शन मिलता है—वे अर्घ्य लेकर रामचन्द्र के समीप आये और बोले—आपका स्वागत है, यह मेरे राज्य की समस्त पृथिवी आपकी ही है। हम लोग आप के सेवक हैं और आप स्वामी हैं, आप इस राज्य का शासन करें। विदा होते समय सुमन्त ने राम-चन्द्रजी से कहा—राजपुत्र ने जिस मार्ग को ग्रहण किया है, उस मार्ग में भृत्य को जैसे रहना चाहिये, मैं भी आपके साथ उसी रूप में रहना चाहता हूँ, मैं सब भृत्यों में अधिक आपका भक्त भृत्य हूँ और भृत्य के समान ही रहना

चाहता हूँ, आपको मेरा त्याग नहीं करना चाहिए। रामचन्द्र जी ने स्वीकार किया । स्वामि-भक्त, आपकी श्रेष्ठभक्ति को मैं जानता हूँ ।

सीताजी की गङ्गा-भक्ति—गङ्गा की मध्य-धारा में आकर सुन्दरी वैदेही हाथ जोड़कर गङ्गाजी से बोलीं—बुद्धिमान राजादशरथ के पुत्र आपके द्वारा रक्षित होने पर पिता की आज्ञा का पालन करेंगे। पूरे चौदह वर्ष वन में रह कर भाई लक्ष्मण तथा मेरे साथ ये पुनः लौटेंगे। सुभगे, उस समय कुशल पूर्वक लौटी हुई मैं सब मनोरथों के पूर्ण होने से प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारी पूजा करूँगी। त्रिपथगे देवि, तुम्हारी कीर्ति ब्रह्मलोक तक फैली हुई है। देवि, मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ तथा तुम्हारी स्तुति करती हूँ। जब रामचन्द्र कुशल-पूर्वक लौटेंगे तथा राज्य पायेंगे, तब तुम्हारी प्रसन्नता के लिए सौ सहस्र गौ, वस्त्र तथा उत्तम अन्न ब्राह्मणों को दूँगी।

वट-भक्ति—

सीता जी यमुना-वन को पार कर शीतल हरे पत्ते वाले श्माम वट के समीप पहुँचीं। उस वट-वृक्ष के पास जाकर सीता ने उसे प्रणाम किया और कहा—हे वट, तुमको नमस्कार, मेरे अपने चौदह वर्ष के वनवास व्रत को पूरा करें। कौसल्या और यशस्विनी सुमित्रा को हम लोग देखें, ऐसी प्रार्थना कर और हाथ जोड़ कर सीता ने उस महावृक्ष की प्रदक्षिणा की ।

राज भक्ति का प्रभाव जन-जीवन में शील, शक्ति एवम् सौंदर्य की पूर्णता का निसर्ग विधायक बन गया है। प्रजाजनों में केवल राम की ही कथा चतुर्दिक श्रुतिगोचर होने लगी। श्रीराम के शासन-काल में मानों सारा संसार राम बन गया। आश्रय और आलंबन की यह एकात्म-अभिन्नता भक्ति की पूर्णता को स्पष्ट प्रतीति करा देती है। इसीलिए रामराज्य में अमंगल का सर्वथा भय दूर हो गया। शारीरिक रोग नहीं रह गया। वृद्धजन अपने से अल्प-आयु के बालकों का प्रेतकार्य नहीं करते थे।

राम-भक्ति की यह महत्त्वानुभूति ही आदि-काव्य की चिरन्तन महनीयता का प्राण है। इसीसे अनुप्राणित होकर राम-चरित-काव्य की धारा आदिकाल से लेकर अबतक प्रवाहित होती आरही है।

आदि काव्य के प्रति भारतीय-जीवन में अप्रतिम पूज्य-निष्ठा को देखकर ही ठाकुर रवीन्द्रनाथ ने कहा है—"शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीतती जाती हैं, परन्तु रामायण और महाभारत का पवित्र स्रोत भारत में नाम-मात्र को भी नहीं सूखता" वास्तव में श्रीरामचन्द्र के अमित सद्गुणों की अनुपम विभूतियाँ किसी भी सहृदय को सहज ही अपना भक्त बना लेती हैं। अतएव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उक्ति पूर्ण सत्य है—वाल्मीकि रामायण आरती उतारने की वस्तु है, वह आलोचना-प्रत्यालोचना से ऊपर की चीज़ है।

आश्रम

जीवन प्रवाह में अस्ति-नास्ति के संश्लेष और विश्लेष का क्रम शाश्वत् है। निरपेक्ष रूप में किसी एक की संस्तुति साम्प्रदायिक विषमता अथवा महजबी कट्टरता की हीनता का कारण होती है। भारत के सांस्कृतिक जीवनादर्श के विधाता मनीषियों ने सामाजिक जीवन की एकसूत्रता एवं ध्येयनिष्ठता के लिए वर्ण-धर्म की प्रतिष्ठा द्वारा जिस प्रकार कर्म-क्षेत्र के साधना-पथ को प्रशस्त बनाया, उसी प्रकार व्यक्ति के पुरुषार्थ चतुष्टय के सिद्धिलाभ के लिए आश्रम-धर्म की कार्यपद्धति को महनीयता प्रदान की। इसके अभिधेयार्थ पर अमर कोष के टीकाकार मनुजी दीक्षित ने इस प्रकार विचार व्यक्त किया है

आश्रम्यन्त्यत्र अनेन वा। श्रमु तपसि। घञ्। यद्वा आ समंताच्छ्रमोऽत्र स्वधर्मसाधनक्लेशात्। अर्थात् जिसमें सम्यक् रीति से श्रम किया जाये, वह आश्रम है, जिसमें कर्त्तव्य पालन के हेतु पूर्ण परिश्रम किया जाय। आश्रम का अर्थ व्यवस्था विशेष, विश्राम का स्थान तथा ऋषि मुनियों के रहने का पवित्र स्थान भी किया गया है।

आश्रमानुरूप कार्य-क्षेत्र की साधना का विश्वास यद्यपि व्यावहारिक परिणति के साथ वैदिक युग में ही मिलने लगता है, पर इसकी आदर्शात्मक पूर्णता को प्रतिष्ठा कुछ देर बाद मिली। वैदिक साहित्य में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ का सुस्पष्ट मौलिक परिचय मिलता है, किन्तु वानप्रस्थ और संन्यास इन दो अन्तिम आश्रमों के स्वतंत्र विकास का उल्लेख नहीं मिलता, इन दोनों का संयुक्त अस्तित्व बहुत दिनों तक बना रहा और इनको परिव्राट्, यति, मुनि, श्रमण आदि से अभिहित किया जाता था। वैदिक काल में कर्म तथा कर्मकाण्ड की प्रधानता होने के कारण निवृत्ति मार्ग अथवा संन्यास को प्रोत्साहन नहीं था। वैदिक साहित्य के

अन्तिम चरण-उपनिषद् में निवृत्ति और संन्यास पर विशेष जोर दिया जाने लगा, और स्वीकार कर लिया गया कि जिस समय में उत्कट वैराग्य उत्पन्न हो, उस समय वैराग्य से प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है।

सूत्र युगों में चार आश्रमों की परिगणना होने लगी थी। यद्यपि उनके नाम-क्रम में अब भी मतभेद था। **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** (२, ६, २१, १) के अनुसार गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, ब्रह्मचर्य, मौन तथा वानप्रस्थ, **गौतम धर्मसूत्र** (३, २) में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस चार आश्रम बतलाए गए हैं। **वशिष्ठ-धर्मसूत्र** (७, १, २) में गार्हस्थ्य, ब्रह्मचारी, बानप्रस्थ तथा परिव्राजक चार आश्रमों का वर्णन है।

आदिकवि (वाल्मीकि) ने आश्रम चतुष्टय के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है, परन्तु गृहस्थ आश्रम को वे सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हैं, इनके काव्य में प्रत्येक आश्रम का महिमारूप अत्यन्त प्रभावशाली रूप में दृष्टिगत होता है।

ब्रह्मचर्य—

ब्रह्मचर्य आश्रम के प्रति वैदिक ऋषियों में ऊँची आस्था मिलती है। ब्रह्मचारी की महिमा-मूर्ति की संस्तुति तथा ब्रह्मचर्य की लोकपावनी शक्ति के गौरव गान में अनेक मंत्रों की उन्होंने रचना की है। अथर्ववेद के ऋषि ने ब्रह्मचर्य की साधना शक्ति का परिचय देते हुए कहा है, कि ब्रह्मचारी वेदविद्या को धारण करता है, उसमें सब देवता रहते हैं। वह प्राण, अपान और व्यान के स्वास्थ्य को, वाणी, मन और हृदय की शुद्धता को तथा विद्या एवं बुद्धि के उत्कर्ष को प्रकट करता हुआ विचरता है। इसी कारण ब्रह्मचर्य की महिमा अतुलनीय है ब्रह्मचर्य रूपी तप से इन्द्रियाँ मृत्यु को दूर हटाती हैं। इन्द्रियों का स्वामी ब्रह्मचर्य रूपी तप से निश्चित रूप से इन्द्रियों के लिए शरीर स्वर्ग को बनाता है। ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य का परिचय देते हुए शतपथ-ब्राह्मण में कहा है, कि जिस रात्रि में ब्रह्मचारी समिधा नहीं लाता है, उस रात्रि में अपनी आयु का कुछ भाग खोकर वह निवास करता है। ब्रह्मचारी समिधा लाकर निश्चय सायं प्रातः अग्निहोत्र करे। वह गुरु से ऊँचे आसन पर न सोए, न

बैठे। उसे गान तथा नृत्य-शील, व्यर्थ भ्रमण करने वाला और बार-बार थूँकने वाला न होना चाहिए।

वैदिकऋषियों की ब्रह्मचर्य आश्रम तथा ब्रह्मचारी के प्रति जैसी असाधारण सद्भावना मिलती है। आदिकवि ने उसी रूप में उसकी अद्भुत-शक्ति का परिदर्शन कराया है। महाराज दशरथ के पुत्रेष्टि-यज्ञ को सम्पन्न कराने वाले ऋष्यश्रृंग की ऐसी ही महीयसी महिमा है। वे वनवासी, तपस्वी तथा स्वाध्यायशील हैं। नित्य पिताकी आज्ञा में रहने के कारण वे संसार में और किसी को नहीं जानते हैं। उनका ब्रह्मचर्य दो प्रकार का है, एक मेखलादि-धारण स्वरूप और ऋतुकाल के समय भार्या के निकट गमन स्वरूप। पर पिता और अग्नि की सेवा में संलग्न रहने के कारण उनके विवाह का समय बीत गया। इसी समय अंग देश के राजा रोमपाद के यहाँ भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। उनके द्वारा प्रायश्चित पूछे जाने पर वेद-पारंगत ब्राह्मणों ने कहा, कि सब प्रकार से उपाय करके विभाण्डक पुत्र ऋष्यश्रृंग को लाइये। उनके आते ही वर्षा होने लगी। ब्रह्मचर्य के दिव्य-संकल्प की साधना-शक्ति कितनी अद्भुत अभिमत-रस-वर्षिणी होती है। इसका अत्यन्त सत्प्रभाव-पूर्ण-दृश्य महाकवि ने अंकित किया है। ब्रह्मचर्य के अतुल आलोक से काव्यनायक राम का शील नितान्त महनीय है। अयोध्या की सभा में भरत ने कहा है, कि जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया तथा विधिपूर्वक विद्याध्ययन समाप्त किया और जो सदा धर्मानुष्ठान करता रहता है, उस राम का राज्य मेरे समान अनुज कैसे ले सकता है।

अयोध्या काण्ड के प्रारंभ में राम को विद्याव्रत का पूर्ण स्नातक कह कर उनके ब्रह्मचर्य व्रत की पूर्णसाधना का परिचय दिया गया है। सर्वविद्याओं की समाप्ति के अनुसार नियतव्रतों के लिये उन्होंने स्नान किया है, अर्थात् उन्होंने सब विधायें पढ़ी हैं और विधिपूर्वक पढ़ी हैं, अंगों के सहित वेदों को वे जानते हैं। वैदिक आदि क्रियाओं की रीति उन्हें ज्ञात है और अस्त्र-शस्त्र विद्याओं में तो वे भरत के अग्रजराम अपने पिता से भी बढ़े हैं। सीता

ने रावण से कहा है, कि विद्याव्रत समाप्त किये हुए आत्मज्ञानीब्राह्मण की विद्या की भाँति मैं उन्हीं धरणीपति राम की योग्यपत्नी हूँ। रावण ने भी ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या और व्रत की साधना समाप्त की है। सीता को मारने के लिये क्रोधवश उसे उपस्थित देख कर सुयोग्य सचिव सुपार्श्व ने समझाया है, कि आप ने विधिपूर्वक वेदविद्या के अध्ययन तथा व्रत को पूर्ण किया है। अपने धार्मिक कार्य में आप तत्पर रहते हैं। हे वीरराक्षसेश्वर! फिर आप स्त्री का वध क्यों करना चाहते हैं? मुनिवेष धारी लव-कुश को महर्षि वाल्मीकि ने सांग-वेदाध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् नाना शाखाओं के अनुरूप निर्मित वेदार्थ-बोध के लिये अपनी रचना का बोध कराया। उनके गान को सुनकर संतुष्ट होकर मुनियों ने आश्रम की आवश्यकता का ध्यान रखकर कलश और बल्कल वस्त्र दिया।

ब्रह्मचारी के वेष का परिचय कराते हुए कहा गया है, कि इन पर्वतों ने जिनकी गुफाओं में हवा भरी हुयी है, जो मेघरूपी कृष्ण-मृग चर्म तथा घास रूपी यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं, मानों इन्होंने अध्ययन आरंभ कर दिया है। 'अथर्ववेद' में ब्रह्मचारी के इस गौरव स्वरूप का परिचय कराते हुए कहा गया है, कि समिधा से प्रज्वलित अग्नि की भाँति विद्या रूपी अग्नि से दे-दीप्यमान ब्रह्मचारी कृष्ण मृग चर्म से आच्छादित, ब्रह्मचर्य-आश्रम की दीक्षा से युक्त लम्बी दाढ़ी, मूछ रखे हुये स्नातक होकर घर को जाता है।

इस विवेचन से महर्षि-वाल्मीकि ब्रह्मचर्य-आश्रम के प्रति परम आस्था-वान् दिखाई देते हैं। कवि ने विश्वामित्र, भरद्वाज आदि के ब्रह्मचर्य-साधना-केन्द्रों का परिचय इसी सद्बुद्धि से दिया है।

गृहस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का मूलाधार है। वैदिक साहित्य में इसकी महत्ता का हृदय से गान मिलता है। गृहस्थ के गृह को सम्बोधन करते हुए अथर्ववेद के ऋषि ने गार्हस्थ्य जीवन की समृद्धिपूर्णता का इस प्रकार अभिनन्दन किया है हे गृहो! तुम प्यारी और सच्ची वाणी से युक्त, पूर्णऐश्वर्यमय, विविध

प्रकार के अन्नों से सम्पन्न, हास्यसमन्वित, आनन्दप्रद तथा भूख-प्यास की विवशता से रहित सर्वदा रहो और हम गृहपतियों से किसी काल में भयभीत न हो।' जो ये घर दर्शन मात्र से सुख देने वाले अन्न, दूध सुवर्ण आदि धनों से भरे हुए खड़े हैं, वे वाहर से आते हुये हम गृहपतियों के सुख का कारण बनें। उसी आश्रम में पुरुषनारी के पाणिग्रहण तथा संतानोत्पादन द्वारा जीवन की पूर्णता प्राप्त करता है। ऐतरेव 'ब्राह्मण' में पुत्रोपलब्धि को जीवन का सबसे श्रेष्ठ सुख माना है, जितने सुख मनुष्य लोक, द्युलोक तथा अन्तरिक्ष लोक में मनुष्यों को प्राप्त होते हैं, उससे बहुत अधिक पिता को पुत्र-प्राप्ति से मिलते हैं। इस आश्रम को प्राप्त कर मनुष्य पितृ-ऋण और देव-ऋण से मुक्ति-का अधिकारी होता है। मनु ने ठीक ही लिखा है, जिस प्रकार सभी नदियों का आश्रय एक समुद्र होता है, उसी प्रकार सभी आश्रमों का आधारभूत गृहस्थाश्रम है।

रामायण में भी इन सांस्कृतिक मान्यताओं के अनुरूप गृहस्थ आश्रम को समस्त आश्रमों से श्रेष्ठ कहा गया है। अयोध्या लौटने का आग्रह करते हुए भरत ने राम से कहा है, कि हे धर्मज्ञ, चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। आप उस पुनीत गृहस्थाश्रम को क्यों त्यागना चाहते हैं।

यदि ध्यान से देखा जाय तो आदिकाव्य 'रामायण' का सर्जन गृहस्थ-जीवन के निरूपण के ही लिये हुआ है। इक्ष्वाकु वंशी सभी राजा गृहस्थामश्र के परमोत्तम आदर्श हैं। विवाह के अनन्तर राम की सद्वृत्ति का उल्लेख करते हुए राजा दशरथ ने उनमें आदर्श गृहस्थ के समस्त सद्गुणों का परिदर्शन कराया है। गृहस्थ के लिये धर्म, अर्थ और काम का पूर्ण तत्त्व-बोध आवश्यक होता है। राम इनसे भली-भाँति परिचित हैं। उनकी स्मरण शक्ति और प्रतिमा अलौकिक है। लौकिक तथा सामयिक कार्यों में पूर्ण निपुण हैं। उचित ढंग से धन-ग्रहण कर उससे परिवार के पोषण की रीति वे जानते हैं। दंड प्रयोग के पात्र का उन्हें ज्ञान है। अर्थसंचय तथा व्ययमार्ग के वे ज्ञाता है। विहार

संबंधी कलाओं एवं गीत-वाद्य आदि शिल्प-कौशलों में कुशल हैं। उनका मन सर्वदा उनके वश में हैं। इस कारण वे किसी के स्वल्प उपकार को भी कभी नहीं भूलते और लोगों के अगणित अपकारों को भूल जाते हैं।

राम की गार्हस्थ्यादर्शानुवर्तिता ने राज्यसंस्था को भी गार्हस्थ्य जीवन की स्नेह-सुरभि से पूर्ण कर दिया। उस समय राम की चर्चा अनुक्षण करते हुए सारा संसार राममय हो गया। राम के राज्य काल में कोई स्त्री विधवा नहीं होती थी। बड़े लोगों के सामने छोटों की मृत्यु नहीं होती थी। राम के पूर्वजों के गार्हस्थ्यजीवन के इस सत्प्रभाव का परिचय काव्य के प्रारंभ में कवि ने इसी रूप में दिया है। दशरथ के राज्यकाल में भी अयोध्या में कोई ऐसा नागरिक नहीं था, जिसके पास कम धन हो। जिसकी अभिलाषायें पूर्ण न हुयी हों, अथवा जिसके पास गाय, घोड़े धन-धान्य की कमी रही हो। वहाँ के सभी स्त्री, पुरुष, धर्मात्मा, इन्द्रिय-निग्रही, अपने शील एवं सदाचार से सदा प्रसन्न तथा स्वच्छ हृदय से महर्षि के सदृश दीखते थे। ऐसा कोई भी नहीं था, जिसके पास भोगों की कमी रही हो। कोई भी ऐसा नहीं था, जो साफ सुथरा न रहता हो और उसके शरीर से सुगन्ध की गमक न आती हो।

इस प्रकार गार्हस्थ्य जीवन की श्रीसंपन्नता, भोगाभिरुचि, नैतिकता, आह्लादमयता आदि का मनोरम तथा प्रभावपूर्ण दृश्य अंकित कर कवि ने अपने काव्य के प्रत्येक अक्षर को सगृहस्थ के लिए मन्त्रवत् महनीय बना दिया है। पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, भाई-भाई, राजा-प्रजा आदि व्यक्ति के समस्त पारिवारिक संबंधों का युगान्तरमंगलमय-आलोक-दर्शन ही इसकाव्य का प्राण है। सीता और राम के मंजुल, मधुर, अपूर्व अद्भुत, दिव्यप्रेम का रस काव्य में बहते हुए मिलता है। राजपरिवार को विश्वपरिवार की समन्वय ज्योति का आराध्य आदर्श-प्रतीक माना है। इस प्रकार इस काव्य में गार्हस्थ्य जीवन का ही महिमामय दृश्य है।

वानप्रस्थ

वानप्रस्थ जीवनादर्श का महिमामय दृश्य-दर्शन उपनिषद साहित्य में मिलता है। इस में आत्मा और प्रकृत्ति की रहस्यमयी अद्भुत-शक्तियों का

साधनात्मक अनुसंधान चारुतामयी विजयिनी अभय दिव्य-शांति से समुज्वल मिलता है। आत्म-तत्त्व-बोध की बलवती अभिलाषा होने पर पत्नी के साथ भी पुरुष इस आश्रम में स्वाध्याय, तपस्या और संयम के द्वारा मुक्ति के पथ को प्रशस्त करने के लिए अनवरत साधनाशील रहते हैं। जीवन की किसी अद्भुत-सिद्धि की उपलब्धि अथवा पूर्वजन्मार्जित पुण्य की मंगलमयी पूर्णता के लिये गृहस्थ जीवन के सीमाबद्ध-व्यवहार-चक्र से ऊपर उठ कर भी इस आश्रम में मनीषी जन, साधनारत दृष्टिगत होते हैं। शिक्षा के गुरुतर-दायित्व का संचालन करने वाले तपस्वियों को इसी आश्रम में रहकर समाज का मार्ग-दर्शन कराते हुए हम देखते हैं। वाल्मीकि, विश्वामित्र, भरद्वाज, सुतीक्ष्ण अगस्त्य आदि रामायण-युग के महनीय-मनीषियों को तपोवन में रहते हुए धर्म-शिक्षा, राजनीति, अर्थ-नीति आदि के आदर्श-विधाता के ही रूप में हम नहीं देखते हैं, अपितु लोकविजयिनी-मंगल-कारिणी उपलब्धियों से वे सर्वथा परिपूर्ण दिखाती देते हैं।

काव्य के नायक राम ने वैखानस अथवा वानप्रस्थव्रत को स्वीकार करते समय गुह से इस प्रकार निवेदन किया है। गुह, इस समय मुझे मनुष्य-युक्त वन में नहीं रहना चाहिए, किन्तु आश्रम में रहना चाहिये। उस विधि का पालन करमा चाहिये, जो आश्रम में रहने वालों के लिये निर्दिष्ट है। इस कारण तपस्वियों के नियम, भूशयन, जटा आदि धारण करता हूँ। पिता की मनोरथ की पूर्ति के लिये सीता और लक्ष्मण की सम्मति से तपस्वियों की भूषण जटा को बनाकर मैं यहाँ से जाऊँगा। तुम बट का दूध ले आओ। गुह ने शीघ्र ही बट का दूध लाकर राजपुत्र को दिया। राम ने उस दूध से अपनी तथा लक्ष्मण की जटा बनायीं। नरसिंह, महाबाहुराम जटिल बन गये। वानप्रस्थ (वैखानस) धर्म ग्रहण करके लक्ष्मण के साथ राम ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करने लगे।

लंका में पहुँच कर चारों ओर सीता का पता लगाने के पश्चात् निराश होकर हनुमान ने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करने का निश्चय किया और

सोचने लगे, कि सीता को बिना देखे, खानेवालों के हाथ या मुख से गिरे अन्न को खाकर मैं वानप्रस्थी हो जाऊँगा और वृक्षों के नीचे निवास करूंगा। अथवा उपवास के द्वारा प्राणत्याग करने के लिये बैठे हुये मेरे शरीर का माँस कौवे तथा हिंस्र जन्तु खा जायेंगे।

शरभंग मुनि के आश्रम के तपस्विगण जिनमें अधिकांश वानप्रस्थी हैं। आश्रम में राम को प्राप्त कर इस प्रकार निवेदन करते दिखाई देते हैं। हे नाथ! उस राजा को बहुत बड़ा पातक लगता है, जो प्रजा से राज्य कर तो लेता है। किन्तु अपनी प्रजा का पुत्र के समान पालन नहीं करता। जो राजा प्रजा को प्राणों से बढ़कर समझते हुए उसका पालन करता है, तो हे राम! वह राजा इस देश में स्थायी कीर्ति तथा अंत काल में ब्रह्मलोक प्राप्त करता और वहाँ भी आदर पाता है। कोई एक मुनि फल मूल खाकर जो धर्म संचय करता है, उसमें से चौथाई भाग धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करने वाले राजा को प्राप्त हो जाया करता है। यह वानप्रस्थियों का समूह जिनमें अधिक संख्या ब्राह्मणों की है और जिसके प्रभु एक मात्र आप हैं। राक्षसों के हाथों से बुरी तरह मारा जा रहा है। हे राम! आप हमारे साथ चलिये, तो दिखायें, कि क्रूर राक्षसों के द्वारा मारे गये कितने ब्रह्मज्ञानियों की ठठरियों की ढेर लगी हुयी है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी वानप्रस्थ मुनियों के देश-व्यापी प्रभाव का पूर्ण परिचय मिल जाता है। इसलिये राम ने उनसे कहा है, कि आप लोगों का कार्य-साधन करने के लिये मेरा आप लोगों के पास आगमन हुआ है। मेरे इस वन में रहने से आप लोगों का बहुत लाभ होगा। अगस्त्य मुनि के आश्रम में पहुँचने पर उन्होंने वानप्रस्थी विधि से ही राम का आतिथ्य किया। उनके आश्रम की दिव्यता और प्रभाव का अत्यन्त आकर्षक दृश्य कवि ने अंकित किया है। वन भर में हवन का धुँआ फैला हुआ है। मुनिवस्त्र-माला की तरह सूखने के लिये फैले हुये हैं। मृगों के झुण्ड शान्त भाव से विचर रहे हैं। इस आश्रम में असत्यभाषी, क्रूर और शठ प्रकृति के लोग नहीं रह सकते। निर्दयी और कामी लोगों का भी यहाँ गुजर नहीं है। कितने महामुनि यहाँ शरीर त्याग और नवीन शरीर धारण कर स्वर्ग जा चुके हैं। यहाँ

आराधना करने वालों को देवता यक्षत्व, देवत्त्व और विविध प्रकार के राज्य प्रदान करते हैं। मुनिने वन्य-फल-मूल और फूल आदि सामग्रियों से राम का पूजन किया और कहा है, पुरुषश्रेष्ठ ! यह एक दिव्य धनुष है, इस में सोने और हीरे का काम किया हुआ है। यह साक्षात् विष्णु का धनुष है और विश्वकर्मा का बनाया हुआ है। यह सूर्य के समान तेजस्वी बाण ब्रह्मा का दिया हुआ है। ये दो तरकस इन्द्र ने दिये हैं, जिसमें रखे बाण कभी नहीं चूकते। उनमें बाण भरे हुए हैं। यह सुनहली काम की हुयी तलवार है और इसकी म्यान भी सोने की बनी हुयी है। हे राम ! तुम इस धनुष से वैसे ही संग्राम में असुरों को मारकर देवताओं की गई हुयी लक्ष्मी को पुनः लौटा लाओ, जैसे विष्णु दैत्यों को मार कर देवताओं की श्री लौटा लाये थे।

इस प्रकार वानप्रस्थी मुनियों के युगजीवनव्यापी सत्प्रभाव का महिमामय रूप कवि ने अंकित किया है। अस्त्र, शस्त्र और शाप की शक्ति उनमें अद्भुत दिखाई देती है। कवि ने आरण्यक, उपनिषादि में वर्णित ब्रह्मज्ञान की महिमा और उसकी साधनामयी अपूर्वता का लोकमंगल विधायिनी शक्ति के रूप में ही साक्षात्कार कराया है।

सन्यास

जीवन में अभयत्त्व-सूचक शान्त-जीवन की आनन्दमयी स्थिति का दर्शन वैदिक साहित्य में भली भाँति मिलता है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठकर निर्भय ज्ञानलोक की पूर्णोपलब्धि को उपनिषदों में परम पुरुषार्थ कहा है। यह मानव जीवन के चतुर्थ आश्रम की साधानानुभूति है। आदिकवि ने परिव्राजक और भिक्षुक के रूप में संन्यास आश्रम की महत्ता और विश्वसनीयता का प्रभाव पूर्ण प्रत्यक्ष कराया है।

सीता का अपहरण करने के लिये रावण ने परिव्राजक रूप इसलिये धारण किया था, कि इसके प्रति सीता में किसी प्रकार के अविश्वास की आशंका नहीं होगी। राम, लक्ष्मण के बिना आश्रम को सूना देखकर रावण संन्यासी का रूप धारण करके सीता के समीप पहुँचा। उस समय वह चमकता हुआ गेरुआ

समय इनकी आवाज न बहुत धीमी रही है। न बहुत ऊँची। मध्यम स्वर में ही इन्होंने सब बातें कही हैं। ये संस्कार और क्रम से सम्पन्न, अद्भुत, एक स्थान पर तथा हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली कल्याणीवाणी का उच्चारण करते हैं। हृदय, कंठ और मूर्धा इन तीनों स्थानों द्वारा स्पष्टरूप से अभिव्यक्त होने वाली इनकी इस विचित्र वाणी को सुन कर किसका चित्त प्रसन्न नहीं होगा। वास्तव में वध करने के लिये तलवार उठाये हुये शत्रुका भी हृदय इस अद्भुत वाणी से बदल सकता है।

इस प्रकार जगद्गुरुसंन्यासी की महिमा-मूर्ति का कवि ने दर्शन कराया है। श्रमण शब्द से भी अगर वीतराग प्राणी की ओर संकेत स्वीकार किया जाय, तो दशरथ के यज्ञ में तपस्वी और श्रमण भोजन करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार वीतराग जीवन के प्रति आदिकाव्य में व्यापक-आस्था देखकर इसके प्रभाव-पूर्ण अस्तित्व का परिचय मिल जाता है।

भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को केवल प्रवाह न मानकर उसको सोद्देश्य माना है और उसका ध्येय तथा गन्तव्य निश्चित किया है। जीवन को सार्थक बनाने के लिये उन्होंने चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की कल्पना की है। प्रथम तीन पुरुषार्थ साधनरूप से तथा अंतिम साध्य रूप से व्यवस्थित है। मोक्ष परमपुरुषार्थ अर्थात् जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। लेकिन वह अकस्मात् कल्पना से नहीं प्राप्त होता है। उसके लिये साधना द्वारा क्रमशः जीवन के विकास और परिपक्वता की आवश्यकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारतीय समाज-शास्त्रियों ने आश्रम संस्था की व्यवस्था की। ब्रह्मचारी, पुष्ट शरीर, बलिष्ठ बुद्धि, शान्त मन, शील, श्रद्धा और विनय के साथ युगों से उपार्जित ज्ञान, शास्त्र, विद्या तथा अनुभव को प्राप्त करता है। गार्हस्थ्य में धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन तथा काम का सेवन होता है। संसार में अर्थ तथा काम के अर्जन तथा उपभोग के अनुभव के पश्चात् ही त्याग और संन्यास की, क्रमशः त्याग के द्वारा मोक्ष की पृष्ठभूमि तैयार होती है। संन्यास

में संसार के सभी बन्धनों का त्याग कर पूर्णतः मोक्ष धर्मका पालन होता है। इस प्रकार आश्रम संस्था में जीवन का पूर्ण उदार, किंतु संयमित नियोजन है।

सुसंघटित आश्रम संस्था भारत वर्ष की अपनी विशेषता है। इस विषय पर डायसन (इनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स) के 'आश्रम" शब्द का निम्नांकित मत उल्लेखनीय है।–"मनु तथा अन्य धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित आश्रम की प्रस्थापना से व्यवहार का कितना मेल था। यह कहना कठिन है, किंतु यह स्वीकार करने में हम स्वतंत्र हैं, कि हमारे विचार में संसार के मानव इतिहास में अन्यत्र कोई ऐसा (तत्त्व या संस्था) नहीं है, जो इस सिद्धांत की गरिमा की तुलना कर सकें"।

आदिकाव्य रामायण गार्हस्थ्य जीवन की ऐश्वर्य-माधुरी से रसपेशल होते हुये भी समस्त आश्रमों की अपूर्वता, दिव्यता तथा प्रभविष्णुता की समन्विति से पूर्ण-सामाजिक-संस्कृति का भव्य निदर्शन है।

काव्य-चित्रित तपोवन—

तपस्या भारतीय संस्कृत की आत्मा है। तप से देवताओं ने सर्वप्रथम देवत्त्व को प्राप्त किया, तप से ऋषियों ने स्वर्ग-सुख को पाया। इसलिये तपस्वी-मुनि ने आत्मसंयम के पुण्यालोक से प्रशस्त सृष्टि को आलोकित करने के लिये अनेक तपोवनों का मंगलमय पावन दर्शन कराया है। सरयू तट से लेकर गोदावरी के तट पर्यन्त आश्रमों की लम्बी श्रेणी दृष्टिगत होती है। विश्वामित्र, वशिष्ठ, वाल्मीकि, भरद्वाज, सुतीक्ष्ण, शरभंग, अगस्त्य, गौतम, शबरी, मतंग आदि के आश्रम तपस्या के दिव्यप्रभाव के परिचायक हैं।

दण्डकारण्य में प्रवेश करते ही राम को आश्रम की दिव्यता का अनुभव हुआ। वहाँ कुश और वल्कल वस्त्र फैले हुए हैं। वह आश्रम मंडल ऋषियों की ब्रह्मविद्या के अभ्यास से प्रकट हुए विलक्षण तेज से व्याप्त है। इसलिये आकाश में प्रकाशित होने वाले दुदर्श सूर्य-मंडल की भांति वह भूतल पर उद्दीप्त हो रहा है। वह आश्रम समुदाय सभी प्राणियों को शरण देने वाला है। उसका आँगन सदा झाड़ने बुहारने से स्वच्छ बना रहता है। वहाँ बहुत से वन्य-पशु भरे रहते हैं और पक्षियों के समूह भी उसे सब ओर से घेरे रहते हैं।

वहाँ नित्य अप्सरायें आकर नृत्य करती हैं। उस स्थान के प्रति उनमें बड़े आदर का भाव है। बड़ी-बड़ी पर्णशालायें, स्त्रुवा आदि यज्ञ-पात्र मृगचर्म, कुश, समिधा, जलपूर्ण-कलश तथा फल-फूल उसकी शोभा बढ़ाते रहते हैं। स्वादिष्ट फल देने वाले, परम-पवित्र तथा बड़े बड़े वन्यवृक्षों से वह आश्रम मंडल घिरा हुआ है। वलिवैश्वदेव और होम से पूजित वह पवित्र आश्रम-समूह वेद मन्त्रों के पाठ की ध्वनि से गूँजता रहता है। कमल पुष्पों से सुशोभित पुष्करिणी उस स्थान की शोभा को बढ़ा रही है। वहाँ और बहुत

से फूल सब बिखरे हुये हैं। उन आश्रमों में चीर और काला मृगचर्म धारण करने वाले तथा फल-मूल का आहार करके रहने वाले जितेन्द्रिय एवं सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी पुरातन मुनि-निवास करते हैं। नियमित आहार करने वाले, पवित्र महर्षियों से सुशोभित वह आश्रम-समूह ब्रह्माजी के धाम की भाँति तेजस्वी तथा वेदध्वनि से निनादित है, अनेक महाभाग-ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण उन आश्रमों की शोभा बढ़ाते हैं। महातेजस्वी राम ने उस आश्रम मंडल को देखकर अपने महान् धनुष की प्रत्यञ्चा उतार दी, फिर वे आश्रम के भीतर गये।

करुणा के सत्प्रभाव की यह लोकमंगलविधायिनी-दिव्यता ही भारतीय संस्कृति की सर्वातिशायिनी विशेषता है। अत्रिमुनिके आश्रम की संध्या-कालिक छटा कैसी शान्तिपूर्ण है। दिन में आहार के लिये गये हुये, और संध्या समय निद्रा के लिये एकत्र हुये पक्षियों की ध्वनि सुन पड़ती है। हाथ में घड़ा लिये हुए, स्नान करने के कारण भींगे हुए ये मुनि जिनके बल्कल वस्त्र जल से भींग गये हैं। साथ ही लौट रहे हैं। ऋषि ने विधिपूर्वक अग्नि में हवन किया है। जिससे वायु के द्वारा उड़ाये कबूतर के शरीर के समान धुआँ दिखाई पड़ता है।

इसी प्रकार भरद्वाजमुनि का आश्रम वैभव से सर्वथा पूर्ण है, सेना तथा परिवार से युक्त भरत के स्वागतार्थ पूर्व की ओर मुँह करके और हाथ जोड़ कर मुनि ने ध्यान किया। उनके ध्यान करते ही सभी देवता एक एक करके आये। चन्दन के पर्वत, मलय तथा दर्दुर पर्वतों का स्पर्श करके पसीना दूर करने वाली शीतल, मन्द और सुगन्धित होने के कारण सुखद हवा बहने लगी। दिव्य-मेघ पुण्य वृष्टि करने लगे अप्सरायें नाचने लगीं। देवता, गंधर्व गाने लगे और वीणायें बजने लगीं। लोगों ने देखा, पाँच योजन तक भूमि समतल बनायी गई है और उस पर नीलम और वैदूर्य के समान अनेक प्रकार की घास जमाई गई है। उस भूमि में बेल, केला कटहल, बीजपूर, आँवला तथा उत्तम वृक्ष लगे हैं। जो फल से शोभित हो रहे हैं। चतुः शाल, श्वेत गृह, हाथी,

घोड़ों के लिये शाला, धनियों और राजाओं के लिये महल, जिनमें सुन्दर तोरण लगे हुये थे। धोये निर्मल पात्र रखे हुये थे, सभी प्रकार के आसन बिछे हुये थे। सुन्दर पलंग बिछा था, तदनन्तर भरद्वाज की आज्ञा से शीघ्र ही भरत के पास नदियाँ आयीं। जिनमें पायस का कीचड़ था। उसी समय ब्रह्मा से भेजी हुयी बीस हजार नदियाँ जो दिव्य आभूषणों से भूषित थीं, आईं। सुवर्ण, मणि, मुक्ता और मूगों से शोभित कुबेर की भेजी हुयी बीस हजार स्त्रियां आईं। एक पुरुष को सात-आठ स्त्रियों ने उबटन लगा कर स्नान कराया। उस समय वहाँ कोई ऐसा मनुष्य नहीं देखा गया, जिसके वस्त्र सफेद न हों। जो भूखा हो। मलिन हो, जिसके केश में धूलि लिपटी हो, फल के रस से बनाये हुये बकरे और सुअर के मांस तथा व्यंजनों का समूह सुगंध रसयुक्त दाल वहाँ विद्यमान थी। यह भरद्वाज मुनि के आश्रम का आतिथ्य उनकी तपस्या के प्रभाव का सूचक है।

इसी प्रकार अगस्त्य मण्डकर्णी, मातंग तथा पंचजन आदि के आश्रमों की तपस्या में अपूर्व चमत्कार का परिचय मिलता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि हमारी सांस्कृतिक आध्यात्मिकता की यहाँ पूर्णता हो गई है।

आदिकवि की काव्य-चेतना

आदि-कवि की काव्य-चेतना भारतीय संस्कृति की सार्वभौम तथा सार्वजनीन मङ्गलमयी विभूति है। श्रुति की सरस्वती की यह अनुपम तथा अपूर्व झाँकी है। स्वयं महर्षिकवि ने वेदों के उपबृंहण की दृष्टि से लव-कुश को इसकी शिक्षा दी है। ऐसी स्थिति में वैदिक-काव्य-चेतना की अनुरूपता की दृष्टि से इस काव्य की विवेचना सर्वप्रथम आवश्यक प्रतीत होती है। वैदिक ऋषियों ने कवि और काव्य के सम्बन्ध में जो अपना विश्वास व्यक्त किया है, उसकी पूर्णता की अन्वर्थ व्यंजना हमें यहाँ मिलती है। आदिकवि केवल महाकवि ही नहीं हैं अपितु महर्षि भी हैं। ऋषि और महर्षि शब्द के विषय में 'वायुपुराण' में ठीक ही लिखा है:—

ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत्सनियतस्तस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः।
यस्माद्दषन्ति ये धीरा महान्तं सर्वतो गुणैः।
तस्मान्महर्षयः प्रोक्ता बुद्धेः परम-दर्शिनः।

महर्षि शब्द गौरवशालिनी अभ्युदयोन्मुख आर्यजाति की उन्मुक्त तथा सप्राण ज्योतिस्साधना का सर्वथा आराध्य आदर्श प्रतीक है; जिसकी महिमामय-श्री का स्वागत आर्य-मेधा के शास्त्रियों ने हृदय खोलकर किया है। भारतीय-संस्कृति के स्वस्थ तथा विराट्-संकल्प की परिकल्पना महर्षि-परम्परा की तपःपूत, परमोदार तथा तेजस्विनी ज्योति की ही विभूति है। प्राणिमात्र की अभयत्व-प्राप्ति के लिए विराट्-प्राण-प्रकृति की मनोहारिणी-लीला की सनातन-स्वरों में समन्वय-सृष्टि द्वारा ध्वन्यात्मक-जगत में जिस आप्तपद की प्रतिष्ठा महर्षियों ने प्राप्त की है, वह जीवन की प्रयोगशाला में अनिर्वच-शब्द-ब्रह्म

के निरुपम-प्रभाव का सुन्दर निदर्शन है। महर्षि शब्द का उच्चारण करते ही भारतीय-संस्कृति के मर्मियों के हृदय में मंद्र-मधुर गम्भीर ध्वनि गूँज उठती है। विराट्-प्राण-संकल्प के उत्तुंग-शिखर से फूट-फूट कर असंख्य-भाव निर्झर सहज ही मुग्ध करने लगते हैं। निर्भय-आह्लाद का अपूर्व-उल्लास समष्टि चेतना में जागरण की अपूर्व-सुषमा बिखेर देता है। तपोवनों की अटूट समाधि वीरोल्लासमयी विजयिनी आत्म-निष्ठा की अनुभूति भर देती है। आर्य-महर्षियों ने सामंजस्य-विधायिनी, प्राणमयी, ध्वन्यात्मक सर्जना द्वारा जिस सनातन-दिव्य ज्योति को सर्व-सुलभ-प्रेषणीयता प्रदान की है; वह उनके गम्भीर अनुभव तथा मुक्त-संवेदन का मर्म-दर्शन है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा द्वारा जीवन और जगत के निगूढ़ सत्य का साक्षात्कार है।

वैदिक कवि-निष्ठाः—वैदिक महर्षियों ने कवि को सर्वाग्रणी, युगान्तर क्रान्तिद्रष्टा, सर्वस्रष्टा, सर्वनियन्ता आदि शक्तियों का प्रोज्वल केन्द्र माना है, इसीलिए अपने समस्त आराध्य प्रतीकों में कवि-प्रकृति की लोकरंजनकारिणी चारुता-विधायिनी समन्वय ज्योतिःशक्ति का उन्होंने अनुभव किया है। कतिपय कवि मर्म-प्रकाशिनी मंत्र-ध्वनियों से महर्षिकवियों की कवि प्रकृति के प्रति समादर-बुद्धि का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। सच्चे कवि परमात्मा को प्राप्त करते हैं और अपनी तपस्या के महत्त्व से तेजः सम्पन्न होकर सब लोकों में विचरते हैं। इसप्रकार कवि और काव्य दोनों का चरम ईश्वरीय वैभव की पूर्णता के रूप में परिचय हमें वैदिक श्रुति के द्वारा प्राप्त होता है।

परवर्त्ती आचार्यों की काव्य-निष्ठाः—वाङ्मय में कवि और काव्य के प्रति अपनी अनन्य-निष्ठा का परिचय परवर्त्ती सभी काव्यशास्त्रियों ने हृदय से दिया है। अग्निपुराण में—"कवि को काव्यरूप संसार का स्रष्टा कहा गया है। संसार से जिसस्वरूप को वह प्रियतर समझता है, उसे वैसा ही बना देता है।" आचार्य भरत मुनि से दृश्य-काव्य की सर्वाङ्गता का परिचय देते हुए कहा है, कि—"ऐसा कोई ज्ञान शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं

है, जो इस नाट्य में न दिखाई दे। आचार्यभामह ने इसी सत्य की स्वीकृति में अपने चिन्तन का प्रत्यक्ष काव्य तथा कवि के सम्बन्ध में इस प्रकार कराया है—'ऐसा कोई शब्द, वाच्य, न्याय और कला नहीं है, जो काव्य का अङ्ग न हो। अतः कवि का दायित्व नितान्त महान् है। अच्छे काव्यों के अध्ययन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधनों तथा नृत्य-गीतादि कलाओं में कुशलता प्राप्त होती है। साहित्यदर्पणकार के मत से अल्पबुद्धि वालों को भी बिना किसी परिश्रम के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपलब्धि काव्य के द्वारा ही होती है। आचार्यमम्मट के मत से काव्य से छः प्रयोजनों की सिद्धि होती है, यश की प्राप्ति, धन की उपलब्धि, व्यवहार-ज्ञान, अमङ्गल के नाश, सद्यः परमानन्द लाभ तथा मनोरमा-नारी की भाँति मधुर-उपदेश के लिए काव्य की रचना होती है। आचार्य भट्टतौत ने कवि के लिए ऋषित्व की प्राप्ति को अनिवार्य माना है। वस्तु-तत्व-दर्शन से ऋषित्व की अनुभूति उपलब्ध होती है, किन्तु ऋषि भी अपने अनुभूत-वस्तु-तत्व की अभिव्यंजना में जब तक समर्थ नहीं होते, तब तक वे कवि कहलाने के अधिकारी नहीं होते हैं। महर्षि वाल्मीकि को शाश्वत-सत्य का शुद्ध दर्शन होते हुए भी जब तक उन्होंने वर्णन-शक्ति का परिचय नहीं दिया, तब तक कविता की अभिव्यक्ति कदापि सम्भव नहीं हुई।

काव्य की आत्मा—शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, पर आत्मा की समन्विति के बिना शरीर की शोभा नहीं होती है। इसलिए काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में अपनी प्रतीतियों का प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न रूप में कराया है। अलंकार सम्प्रदाय के दण्डी, भामह आदि आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना है, इनके मत से काव्य की शोभा बढ़ाने वाला धर्म अलंकार है। आचार्य कुन्तक—वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के आचार्य हैं; इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित माना है, सहृदय-जन की लोकोत्तर-चमत्कृति-जनक उक्ति वक्रोक्ति कहलाती है। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है, इनके मत से विशिष्टतापूर्ण अर्थात् गुणों से युक्त पद-रचना ही रीति कहलाती है। ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यध्वनिकार-आनन्दवर्धन हैं।

इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है, जहाँ अभिधेयार्थ व्यंग्यार्थ से दब जाता है वहाँ ध्वनि होती है। इनके मत से काव्य की तीन श्रेणियाँ होती हैं, ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्रकाव्य। रस-सम्प्रदाय के आचार्य भरतमुनि, कविराजविश्वनाथ आदि हैं। रस की महत्ता को प्रायः सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। ध्वनिकार ने भी यह स्वीकार किया है; कि-"जैसे वसन्त में वृक्ष नये और हरे-भरे दिखाई देते हैं, उसी प्रकार रस का आश्रय लेने से पहले देखे हुए अर्थ भी नया रूप धारण कर लेते हैं। ध्वनि का विभाजन करते हुए तीन प्रकार की ध्वनियाँ मानी गयी हैं, वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनि। इस प्रकार भारतीय काव्य-संस्कृति के दोनों ही प्रवाहों में भाव और अभिव्यक्ति का समन्वय हो जाता है।

काव्य के विविध-रूपः—भारतीय-परम्परा में काव्य का कई दृष्टियों से विभाजन हुआ है। पहली आधार-दृष्टि इन्द्रियों के माध्यम की है। जिस काव्य का अभिनय के द्वारा देखने से सच्चा आनन्द प्राप्त होता है; वह दृश्य काव्य कहलाता है। कर्णेन्द्रिय-जनित-आनन्द की सर्वसुलभता श्रव्य-काव्य की परिचायिका है। जीवन की सार्वकालिक तथा सार्वदेशिका पूर्णता की दृष्टि से श्रव्य-काव्य में महाकाव्य का स्थान सर्वथा मूर्द्धन्य है। वैसे खण्ड-काव्य, मुक्तक-काव्य, प्रगीत-आदि और भेद भी इसके होते हैं। आदिकवि की आलोच्य-कृति महाकाव्य है। महाकाव्य के जो लक्षण-आचार्यों ने निर्धारित किये है, उनके समक्ष सर्वोच्च-आदर्श के रूप में यही ग्रन्थ-रत्न सर्वमान्य रहा है।

महाकाव्य-लक्षणः—साहित्य-दर्पण कार ने महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है। सर्गों का जिसमें निबन्धन हो, वह महाकाव्य कहलाता है। देवता या सद्वंश क्षत्रिय, जो धीरोदात्तत्वादि-गुण सम्पन्न नायक होते हैं। शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अङ्गी होता है, अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक सन्धियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन

सम्बन्धिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से एक के रूप में उसकी फल-प्राप्ति होती है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य-वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खेला की निन्दा और सज्जनों का गुण-वर्णन होता है। इसमें आठ से अधिक सर्ग होने चाहिये, उनमें प्रत्येक में एक ही छन्द होता है। सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिये। इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मंत्र, पुत्र, अभ्युदय आदि का यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिये। इसका नाम कवि के नाम से, या चरित्र के नाम से, अथवा चरित्र नायक के नाम से होना चाहिये। सर्ग की वर्णनीय-कथा से भी सर्ग का नाम रक्खा जाता है। यदि एक या दो भिन्न वृत्त हों तो भी कोई हानि नहीं। जल-क्रीड़ा, मधुपानादि का साङ्गोपाङ्ग चित्रण होना चाहिये। महाकाव्य की जिन विशेषताओं का प्रतिबन्ध स्थिर किया गया है, उनकी उपलब्धि का मूलाधार आदिकाव्य ही है।

काव्य की भूमिका—इस महाकाव्य की आरम्भिक भूमिका में इसके सार्वभौम तथा सार्वजनीन महत्व पर समुचित प्रकाश डाला गया है। संवाद शैली में महर्षिवाल्मीकि ने मानव प्रकृति के समस्त-सद्‌गुणों की उपलब्धि की दृष्टि से महिमामय मानव के परिचयार्थ अपनी जिज्ञासा इस प्रकार व्यक्त की है। इस समय इस संसार में कौन मनुष्य गुणवान् वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता, दृढ़निश्चय, चरित्रवान्, प्राणिमात्र का हितैषी, विद्वान्, शक्तिशाली, प्रियदर्शन, आत्मनिष्ठ, क्रोध-हीन, तेजस्वी, गुण-दोष द्रष्टा है? युद्ध में किसके क्रुद्ध होने पर देवता लोग भयभीत हो जाते हैं? हे महर्षि! आप इस प्रकार के वैशिष्ट्य-सम्पन्न मनुष्यको जानने में समर्थ हैं। मैं इसे जानना चाहता हूँ, मुझे अत्यन्त उत्सुकता है। नारद जी ने कहा, कि हे मुने! आपने जिन बहुत से दुर्लभ गुणों की प्रशंसा की है, उनसे युक्त मनुष्य को बतला रहा हूँ,

सुनिए। इन समस्त सद्‌गुणों से सम्पन्न सत्यपराक्रम कौशल्यानंदवर्धन राम हैं, जो गम्भीरता में समुद्र के समान, धैर्य में हिमालय के समान, पराक्रम में विष्णु के समान, प्रियदर्शन में सोम के समान, क्रोध में कालानल के समान और सत्य में दूसरे धर्म के समान तथा क्षमा में पृथ्वी के समान एवं त्याग में कुबेर के समान हैं। महामुनि ने सामुद्रिकशास्त्र के अनुरूप राम के शारीरिक-सौन्दर्य-वैभव का भी परिचय दिया। इस प्रकार काव्य-नायक के पूर्णादर्श का आलोक आदि कवि को सुलभ हो गया।

निर्माणोत्तेजक-घटना—आदिकवि तपस्या के लोकोत्तर सत्प्रभाव की महिमामूर्ति थे। अन्तरात्मा में निखिल-रसामृत सिन्धु का आस्वादन वे कर चुके थे। रत्नाकरडाकू से तपःसमाधिजन्य-परिवर्त्तन द्वारा महर्षिवाल्मीकि की दिव्यानुभूति उन्हें सुलभ हो चुकी थी। पुण्यतोया जान्हवी के समीप तामस-हारिणीतमसा कल-कल-नाद करती बह रही थी, मनोभिरामजल कलङ्क पङ्क-शून्य होकर सज्जनों के चित्त के समान प्रसन्न था। महर्षि के हृदय को इस दृश्य ने मुग्ध कर लिया। उन्होंने स्नान कर वल्कल पहन इस प्रकार के विशाल वन में भ्रमण करना आरम्भ कर दिया। इसी समय तीर्थ के समीप में निर्बाध, मधुर स्वर करते हुए क्रौंचपक्षी के युग्म को ऋषि ने देखा। उनके देखते ही वैर-संकल्प में रहने वाले पाप-निश्चय निषाद ने उनमें से पुरुष-क्रौञ्च को मार डाला। उनके समक्ष क्रौञ्च का मृतकलेवर रक्त से लथपथ हो रहा था। वेचारी क्रौञ्ची के करुणापूर्णरुदन की ध्वनि ने उनकी दयादृष्टि को अपनी ओर खींचा। इस दृश्य को देखकर ऋषि के परम-कोमल हृदय में नैसर्गिक करुणा का स्रोत प्रवाहित होने लगा। अकस्मात् उनके मुख से यह श्लोकात्मक वाग्-वैखरी प्रस्फुटित हुई।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

हे निषाद। तुम अनेक वर्षों तक कहीं स्थान न प्राप्त करो, क्योंकि क्रौञ्च के युग्म में एक काममोहित पक्षी को तूने मार डाला। क्रौञ्च मिथुन को

देखते तथा 'मा निषाद—इस प्रकार कहते हुए उन महर्षि के हृदय में इस पक्षी के शोक से आर्त्त होकर मैंने क्या कह दिया? इस प्रकार चिन्ता हुई। उन्होंने शिष्य से कहा, कि क्रौञ्च के शोक से क्षुब्ध दशा की मेरी तन्मय-निष्ठा चार पादों से युक्त, प्रतिपाद सम-अक्षर से मंडित, तंत्रीलय के अनुरूप श्लोक होगी। इसी समय ब्रह्मा ने दर्शन दिया और कहा 'राम-लक्ष्मण, सीता और राक्षसों का विदित और अविदित जो चरित्र है उसे आप चित्रित करें। जो चरित्र अविदित है वह आपके लिए विदित होगा। आपकी वाणी झूठी नहीं होगी। जब तक धरातल पर पर्वत, और नदियाँ रहेंगी, तब तक रामायण-कथा संसार प्रचलित रहेगी। ब्रह्मा के अन्तर्धान होने पर आश्चर्य चकित शिष्यों ने कहा, महर्षि ने सम-अक्षरयुक्त चार पादों से सुशोभित जो गान किया, वह शोकावेश का उच्चारण होने से शोक ही श्लोक बन गया। इसी तथ्य की अभियव्यंजना में कविवर कालिदास ने लिखा है कि, सीताजी के रुदन का आनुसरण करते कुशा और समिधा लेने के लिए जाते हुए महाकवि वाल्मीकि उनके पास पहुँचे। निषाद द्वारा मारे गये क्रौञ्चपक्षी के देखने से अविर्भूत जिनका शोक ही श्लोकत्व को प्राप्त हुआ। इसी अनुभूति-सूत्र के आधार पर आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में 'प्रतीयमान' अर्थ के सामान्य रूप से काव्य में मुख्य होने पर भी रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है:—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुराः।
क्रौञ्च द्वन्द वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः

काव्य-वैशिष्ट्यः—आत्मनिष्ठ कवि ने समग्र-चरित को विचित्रपद सम्पन्न बनाया है। इसलिए अभिव्यंजना-निष्ठ रीति, वक्रोक्ति, अलंकार, ध्वनि आदि साहित्यादर्शों का आरम्भ में हीं स्पष्ट संकेत मिल जाता है। घटना-वैचित्र्य, भावुकता तथा जीवन-दर्शन की समग्रता का परिचय स्थल स्थल पर आरम्भ से लेकर उपसंहार तक कवि ने दिया है। श्रव्य-काव्य होते हुए भी अपनी गीतिमयता की समन्विति से इसका वैशिष्ट्य सर्वथा अपूर्व है। पढ़ने में, गाने

में मधुर, द्रुत-मध्य, विलम्बित नामक तीन प्रमाणों से समन्वित, षाड्जी, नैषादी धैवती, पाञ्चमी, माध्यमी, गान्धारी तथा आर्षभी इन सप्तजातियों में निबद्ध वीणा और लय से युक्त, शृंगार, करुण, हास्य, वीर, भयानक, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत और शान्त, इन नव-रसों से रुचिर इस काव्य का गान करने के लिए लव-कुश को कवि ने आदेश दिया है। इनसे गान को सुनकर ऋषियों मुनियों के आँखों में आँसू भर आये। वे आश्चर्यमुग्ध होकर संस्तुति करने लगे। इस प्रकार कवि-वक्तव्य की प्रेषणीयता और परिणति का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। भावकों को यह स्वीकार करना पड़ा है, कि बहुत दिनों का बीता हुआ जीवन-दृश्य भी प्रत्यक्ष की भाँति हम लोगों ने देख लिया। यही कवि-हृदय का भावक हृदय के साथ साधारणीकरण है और काव्य की चरम सार्थकता है।

काव्य-नामकरण की सार्थकताः—कवि ने महाकाव्य रामायण को सीता का चरित कहा है। राम के समग्र सद्गुणों का सम्पादक होने, काव्य-नायक के आदर्श प्रतिनिधित्व तथा फल-भोक्तृत्व के कारण रामायण नाम की सार्थकता है; पर पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि का आधार सीता जी का चरित ही है। उन्हीं का माया-मारीच-मोह राक्षसी अत्याचार से मुक्ति का कारण बनता है। इसलिए घटना-चक्र के चूडान्त-विस्तार का हेतु सीता की स्मृति ही है। सीता के वियोग में राम के सन्तप्त हृदय का ही परिणाम है। तीसरा नाम "पौलस्त्य-वध" कवि ने कहा है। वस्तुतः लोक को रुलाने वाले रावण का वध ही सर्व प्राणि-हित-साधना का चरम-ध्येय है। इसलिए पौलस्त्य-वध की दृष्टि से लिखा-गया काव्य पौलस्त्य-वध भी कहा जा सकता है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य में पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ काव्य-प्रयोजन का साधनोपाय होती हैं। जिसका पहले अल्प कथन किया जाय, किन्तु उसका विस्तार अनेक रूप से हो उसे बीज कहते है। इसे विष्णु के अवतार तथा सीता विवाह आदि के रूप में आरम्भ में देखा जा सकता है। अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर भी प्रधान कथा के अविच्छेद का जो निमित्त है, उसे बिन्दु कहते हैं। जैसे, अयोध्याकाण्ड

में रामराज्यभिषेक के वृतान्त से रावण-वध रूप-कार्य का विच्छेद प्राप्त होनेपर वनवास का निर्णय अविच्छेद कारण है। जो प्रासंगिक-कथा दूर तक प्राप्त हो, उसे पताका कहते हैं। जैसे सुग्रीव का वृतान्त है। प्रसङ्गागत तथा एक देश-स्थिर चरित्र को प्रकरी कहते हैं। जैसे जटायु विभीषण आदि की कथा है। जो प्रधान साध्य है, सब उपायों का प्रारम्भ जिसके लिए किया गया है, जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री एकत्र हुई है, उसे कार्य कहते हैं। जैसे, रामायण में रावण का वध है।

रस-व्यंजना—आदि-कवि ने अपने काव्य को शृंगारादि समस्त-रसों से आपूर्ण कहा है। आत्मीयता की यह जीवनव्यापिनी सहृदयता ही इस कृति को भावकों का हृदयहार बनाने में समर्थ है। रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा गया है। सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थिर वासना रूप, रति, क्रोध आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त हो कर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं। अन्तःकरण के रजोगुण और तमोगुण को दबा-कर सत्वगुण के सुन्दर, स्वच्छ प्रकाश होने पर रस का साक्षात्कार होता है। रस का स्वरूप अखण्ड, अद्वितीय, स्वयंप्रकाश, स्वरूप, आनन्दमय और चिन्मय है। रसास्वाद के समय विषयान्तर का ज्ञान पास तक नहीं फटकने पाता, अतएव यह ब्रह्मस्वाद से सम्पृक्त होता है। यही लोकोत्तर चमत्कार इसका प्राण है। यही रस-पेशल-वर्णन रामायण का हृदय हैं।

संभोग-शृंगार—राम के विवाह के बाद से शृंगार का मर्मस्पर्शी रंजक-दृश्य गोचर होने लगता है। मनस्वी राम ने सीता के हृदय में समर्पित होकर एकात्म-भाव से अनेक ऋतुओं में सीता के साथ बिहार किया। इसके अनन्तर सीता के भूमि-प्रवेश तक के घटना-चक्र तथा कथा-प्रवाह में शृंगार की मधुरव्यंजना शतशः प्रसंगों में हुई है। कहीं नारी के नख-शिख की रूप-माधुरी का मर्माकर्षण है, कहीं प्रेमी का प्रेयसी-प्रकृति के प्रति भावुकतामय प्रणयोद्गार है और कहीं संभोग के विलास का नग्न भावावेश है। राम और सीता के संभोगप्रणय-दर्शन में कवि ने संयत-कल्पना से काम लिया है, किंतु

काम रूप राक्षसों के नग्न-विलास का अनेक दृश्य अंकित है। हनुमान् ने लङ्का पहुँचकर देखा, किसी स्त्री के कोमल-अंगों तथा स्तनों पर नख-क्षत भूषण के समान जान पड़ता है, कई स्त्रियां दूसरे की छाती पर, दूसरी उसकी बाहु पर कोई किसी की गोद में तथा किसी के स्तनों पर सोई हुई थीं। कई स्त्रियों के मोती के हार टूट गये थे, वस्त्र खिसक गये, करधनी अलग हो गई थी। नल-कूबर से मिलने जाने वाली रम्भादिक अप्सराओं के साथ रावण के बलात्कार का नग्नचित्र भी मिलता है। अंजना के साथ पवन के संभोग की झाँकी नितान्त मधुर है।

विप्रलंभ—शृंगार के करुणात्मक-विप्रलंभ का हृदय स्पर्शी-दर्शन राम-और-सीता के द्वारा कवि ने कराया है। सीता के विवाह में व्याकुल होकर राम, लक्ष्मण से कहते हैं कि सीता के साथ रहने पर जो वस्तुएँ मेरे लिए सुन्दर थीं, रमणीय थीं, वे ही आज सीता के न रहने पर अरमणीय और असुन्दर हो रही हैं। कोमल केसर से मिला हुआ दो वृक्षों के बीच से निकला हुआ मनोहर वायु सीता के निःश्वास के समान बह रहा है। यह कारण्डव पक्षी जल में स्नान करके अपनी कान्ता के साथ विहार कर रहा है और मेरे काम को बढ़ा रहा है। लक्ष्मण ! मैं वैदेही का अतुलनीय हितकारी बचन कैसे सुनूँगा। वस्तुतः कवि ने सीता को भारतीय नारी की विरहासक्ति के चरम प्रकाश के रूप में चित्रित किया है। उनका विरह नारी-हृदय की विवशता और अतृप्ति का करुणार्द्र दृश्य है। क्षीण हुई कीर्ति के समान, तिरस्कृत श्रद्धा के समान, परिक्षीण बुद्धि के समान, प्रतिहत आशा के समान, नष्ट हुए परिणाम के समान, उत्पात के समय धधकती दिशाओं के समान, अन्धकार से ढँकी पूर्णिमा की रात्रि के समान, बर्फ आदि के कारण कठोर हुई कमलिनी के समान निहत-सैनिक सेना के समान, अंधकार से ढकी प्रभा के समान, सूखी नदी के समान, अशुद्ध हुई वेदी के समान, बुझी अग्निशिखा के समान, पति शोक से आतुर, सुकुमारी शुभाङ्गी घर के भीतर रहने के योग्य का गर्मी से तपी हुई, तुरन्त तोड़ी गयी कमलिनी के समान रावण ने सीता को देखा। वह काँप रही थीं।

जिस प्रकार हवा से कदली काँपे। राक्षसियों के भय से डरी हुई सीता का मुँह पीला पड़ गया था। उनके विलाप में रति और शोक का अपूर्व मिलन हुआ है। जब वे कहतीं हैं—"हा राम। हा लक्ष्मण! हा सुमित्रे! हा माता कौसल्ये! मैं अभागिनी यहाँ मर रही हूँ जिस प्रकार महासागर में आँधी से नाव डूब जाती है। इस प्रकार वियोग की मर्मस्पर्शी-वेदना का रस सीता की वाणी से श्रुतिगोचर होता है।

करुणरस—इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से करुण रस की निष्पत्ति होती है। इसका स्थायीभाव शोक है। राम के वियोग में दशरथ, कौसल्या, भरत आदि उनके आत्मीय-जन ही शोक की मूर्त्ति के रूप में ही दिखाई देते हैं। वह नगर रामचन्द्र के जाने से बहुत दु:खी हो गया, सब लोग रोने लगे, खिन्न हो गए, हाहाकार करने लगे, और बेहोश हो गए। राजा दशरथ ने जब सम्पूर्ण नगर को दु:ख में निमग्न देखा, तब वे दु:ख से गिर पड़े, जिस प्रकार कटा हुआ वृक्ष गिर पड़ता है। कोई हा राम! कोई हा राममाता! कहकर विलाप करने लगा, जिससे वह भरा-पूरा घर भी रोने लगा। जिस प्रकार बछड़े वाली गौ जिसका बच्चा बँधा हो, वह अपने बछड़े के लिए घर की ओर दौड़ती है, उस तरह रामचन्द्र की माता कौसल्या रोती हुई दौड़ीं। वे हा राम, हा सीते! हा लक्ष्मण! कह कर विलाप करती जाती थीं। यह ऐसी सृष्टिव्यापिनी करुणा है जिसमें अयोध्या की सारी प्रकृति डूबी जान पड़ती है। राम के वियोग से नक्षत्रों की दीप्ति धीमी पड़ जाती है, ग्रहों का तेज जाता रहा। वे सब अपने स्थान से हटे हुए और धुँआ के समान धुँधले जान पड़ते हैं। दिशायें व्याकुल हुईं और अन्धकार से ढँक गईं। सड़क पर चलने वाले सभी दुखी थे, सभी के मुँह आँसू से भीग गये थे, कोई भी वहाँ प्रसन्न नहीं था। हवा ठंढी नहीं चलती थी, चन्द्रमा सुन्दर नहीं दिखता था। सृष्टि के समस्त प्राणियों में शोकाकुल हृदय की प्रगति थी। राम के विरह में राजा दशरथ, इस प्रकार शोक समाधि में लीन हो गए। हा राघव! हा मेरे दु:ख को दूर करने वाले, हे पितृ-प्रिय मेरे स्वामी कहाँ

गये। राम की माता और सुमित्रा के समीप शोक करते हुए राजा दशरथ ने प्राण त्याग किए। भरतजी ने ननिहाल में ही स्वप्न में परिवार की इस दयनीय स्थिति को देखा। अयोध्या में आने पर उन्हें वैसी ही शोकमग्नता परिलक्षित हुई। अपनी माता को ही सारे अनर्थ का कारण जानकर जो शोकोद्गार उन्होंने व्यक्त किया है, उसके प्रत्यक्षर अन्तर्व्यथा से नितान्त करुणा-पूर्ण हैं। चित्रकूट की झाँकी करुणा की मर्मकथा है। राक्षसों के युद्ध में पराजय के अवसर पर तथा लक्ष्मण की मूर्च्छा के समय करुणा की ग्लानिमूर्ति का दर्शन मिलता हैं। द्वितीय वनवास के समय सीता करुणा की मूर्ति बनकर दिखाई देती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रबन्ध में करुणा का व्यापक राज्य दिखाई देता है।

हास्यरस—विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि के नाट्य से हास्यरस का आविर्भाव होता है। इसका स्थायी भाव-हास है। कुल्हाड़ी, कुदाल, और हल हाथ में लिए हुए इधर-उधर भटकनेवाले निर्धन ब्राह्मण त्रिजट का चित्र अत्यन्त हास्यपूर्ण है। फटा हुआ कपड़ा किसी प्रकार पहन कर पत्नी के कहने से राम के पास वह पहुँचा, और बोला, महाबली राजपुत्र, मैं निर्धन हूँ, मेरे बहुत से पुत्र हैं, मैं वन में रहता हूँ, मेरी कोई वृत्ति नहीं हैं, आप मेरी ओर देखें। राम ने परिहासपूर्वक उससे कहा, मैंने हजार गौओं में की एक गौ भी नहीं दी है। तुम डण्डा फेंको, वह जहाँ तक जायेगा, उतनी दूर में जितनी गौएँ आयेंगी, वे सब तुम्हारी होंगी। शीघ्र ही उसने धोती कस ली और बड़े वेग से डण्डा फेंका, उसके हाथ से फेंका हुआ डण्डा सरयू के उस पार कई हजार गौओं के झुंड को पार करता हुआ, साडों के पास गिरा। राम त्रिजट को प्रसन्न करते हुए बोले, मैंने यह आपके साथ हँसी की थी। अत एव आप क्रोध न करें। महाकाव्य में शूर्पणखा की कामोन्माद-मयी झाँकी हास्यपूर्ण है। विशाल नेत्र के लिए विकटनेत्री, सुकेशा के लिए तांबे के रंग के बाल वाली, प्रियरूप के लिए विकटरूपा, मृदुभाषिणी के लिए वक्रभाषिणी, उचिताचार के लिए कामोन्मादमयी, पूर्णराक्षसी शूर्पणखा

प्रेमोपलब्धि के पक्ष में बोली। राम के समीप अपना अभीष्ट असफल होने पर लक्ष्मण के पास आई और बोली तुम्हारे इस रूप के अनुरूप मनोहर रंगवाली मैं भार्या बननी चाहती हूँ। मेरे साथ पूरे सुख से दण्डकारण्य में विहार कीजिए। लक्ष्मण ने हँसकर कहा, क्या मुझ सेवक की भार्या बनकर सेविका बनना चाहती हो? मैं पराधीन हूँ, अतः आर्य राम की ही भार्या बनो, इस प्रकार आदिकवि ने मन्द्र-मधुर कल्पना में हास्य-रसानुभूति की उपेक्षा नहीं की है।

वीररस—उत्तम पात्र में आश्रित वीररस होता है। इसका स्थायी भाव उत्साह है। इसमें जीतने योग्य रावणादि आलम्बन विभाव हैं। युद्ध में सहायक आदि का अन्वेषणादि अनुभाव है। धैर्य, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्चादि इसके संचारी भाव हैं। दान, दया, धर्म और युद्ध के कारण यह चार प्रकार का होता है। दानवीर, धर्मवीर, दयावीर, और युद्धवीर। महाकाव्य रामायण में वीरता के आदर्श चतुष्टय की सर्वत्र व्यंजना मिलती हैं। यौद्धिक वीरता के सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्धि है, कि राम-रावण का युद्ध राम-रावण के ही समान है:—

रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।

महामुनि विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के समय से ही राम की वीरता का प्रत्यय होने लगता है। भयानक वज्र के समान आक्रमणार्थ आती हुई ताड़का को राम ने बाण से हृदय में मारा। मिथिला में उस धनुष को जिसे चढ़ाने में देवता, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष तथा पृथ्वी के राजा हार चुके थे, रामने हजारों मनुष्यों को देखते हुए विनोदपूर्वक तोड़ दिया।

वनस्थली और लङ्का के समस्त घटना-चक्र में राम लक्ष्मण हनुमान् आदि की अद्भुत वीरता का दृश्य स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होता है। अयोध्या में रामकी दानवीरता स्पष्ट दिखाई देती है। त्रिजट को कई हजार गायें देते हुए राम ने कहा, कि मेरी जो कुछ सम्पत्ति है, वह ब्राह्मणों के लिए है। दण्डकारण्य में जब ऋषियों ने राम से राक्षसों के अत्याचरा से रक्षा के लिए प्रार्थना की

और राम ने उसे स्वीकार किया। तब सीता ने प्राणिहत्या के व्रत से उन्हें विरत होने के लिए कहा तथा शस्त्र-त्याग के लिए उन्हें अनुमति दी। तब धर्म-वीर राम ने सीता को इस प्रकार उत्तर दिया। चाहे लक्ष्मण के सहित तुमको और अपने प्राण को भी मुझे भले त्यागना पड़े, पर ऋषियों की रक्षा मैं अवश्य ही करूँगा। जब खरदूषण की चौदह हजार सेना उत्पात करती राम पर आक्रमण करने आती दिखाई पड़ी, तब राम ने लक्ष्मण से कहा, तुम वीर और शक्तिशाली हो, इन सबको मार सकते हो, पर मैं इन समस्त राक्षसों को स्वयं मारना चाहता हूँ। सुग्रीव ने जब राम के बल की परीक्षा लेने के लिये शाल वृक्ष को बाण द्वारा भेदने तथा दुन्दुभी नामक असुर की हड्डी को दो सौ धनुष की दूरी पर एक पैर से उठाकर फेंकने के लिये कहा, तब राम ने बिना श्रम के पैर के अँगूठे से उटाकर दस योजन पर फेंक दिया और एक बाण लेकर शाल वृक्ष को लक्ष्य कर इस प्रकार मारा, कि वेधता हुआ पृथ्वी को फोड़ता हुआ बाण पाताल में चला गया तथा सात तालों को भेदकर पुनः तरकस में लौट आया। बालि और रावण का बध राम की वीरता की बड़ी परीक्षा है। दोनों की वीरता सृष्टि-व्यापिनी विजयशीलता का उत्कृष्ट प्रमाण है। महाकवि ने इन दोनों अपरिमेय शक्ति के वीरों के बध द्वारा वीर रस का जो चमत्कार दिखाया, वह सर्वथा अपूर्व है। हनुमान् और लक्ष्मण भी विजयिनी तेजस्विता के बेजोड़ प्रतीक है।

भयानक—विकृत-क्रूर दर्शन से भयानक-रस की प्रतीति होती हैं। इसका स्थायीभाव भय है। जिससे भय उत्पन्न हो, वह इसमें आलम्बन और उसकी चेष्टायें उद्दीपन मानी जाती हैं। यह सृष्टि सनातन भय के अनुशासन का रहस्यमय संघर्षकेन्द्र है। कठोपनिषद् के गायक ऋषि ने ठीक ही लिखा है, कि इसके भय से अग्नि तपता है, इसके भय से सूर्य तपता है, इन्द्र (विद्युत्) वायु और पाँचवा काल दौड़ता है। सत्संकल्प के प्रतीक भरत को पिता की सत्य-समाधि का चरम भयानक दृश्य स्वप्न में ही प्रकृति के भयानक घटना-चक्र के रूप में प्राप्त होता है। वे मित्रों को अपना परिचय इस प्रकार देते हैं, 'मैंने

स्वप्न में पिता को देखा है, वे मुरझाये हुए थे, उनके बाल खुले हुए थे। वे मानों पर्वत के शिखर से गोबर भरे तालाब में गिर पड़े हैं। वे उस गोबर के तालाब में तैरने लगे, वे अंजलि से जल पीते थे और बार बार हँसते थे। पुनः तिल और चावल उन्होंने खाया। उनका शिर नीचे हो गया, उनके समस्त शरीर में तेल लगाया गया और वे तेल में डुबोये गये और पुनः स्वप्न में मैंने देखा, कि समुद्र सूख गया है। चन्द्रमा पृथ्वी पर गिर पड़े हैं। समस्त संसार राक्षसों से पीड़ित हुआ है और अन्धकार से ढँक गया है, राजा की सवारी के हाथी के दाँत चूर-चूर हो गये हैं। धधकती हुई आग सहसा बुझ गई है। पृथ्वी फट गई है। बहुत से वृक्ष सूख गये हैं, और उनमें से धुआँ निकल रहा है। मैंने देखा है, लोहे के पीढ़ा पर काले वस्त्र पहन कर मेरे पिता बैठे हैं और काली तथा धूसर रंग की स्त्रियाँ उन्हें मार रही हैं। धर्मात्मा राजा लाल माला तथा लाल चंदन धारण किये हुए हैं और गधे के रथ पर बैठकर शीघ्रतापूर्वक दक्षिण की ओर गये हैं। मैंने देखा है कि लाल वस्त्र पहने हुए भयानक मुख वाली एक राक्षसी राजा को खींच रही है और हँस रही है। इस भयानक रात्रि को मैंने ऐसे स्वप्न देखे हैं। मेरा गला सूख रहा है। मन भी चंचल है। मेरी आवाज धीमी पड़ गई है, मेरी काँति भी नष्ट हो गई है। ऐसे ही अनेक दुःस्वप्न मैंने देखे हैं। पहले इनके सम्बन्ध में मैंने कुछ भी नहीं सोचा था। इसी कारण मेरे हृदय में बड़ा भारी भय बैठ गया है। भय की भाँति ही असत्संकल्प रूप मारीच का भय भी सत्य प्रतीति जनक है, जब रावण उसे छल की माया करने के लिए प्रभावित करना चाहता है तब वह भयत्रस्त होकर रावण का मुख देखने लगता है। उसका मुख सूख जाता है। सूखे ओठों को चाटते हुए उसके नेत्र मरे हुए की भाँति निमेष रहित हो जाते हैं। वह अपने जीवन के अनुभूत भय का परिचय देते हुए रावण से कहता है, कि जब से राम के बाणों के प्रहार से भागते हुए जीवन प्राप्त कर मैं आया हूँ, तब से प्रत्येक वृक्ष के नीचे बल्कल और कृष्ण मृगचर्म लपेटे हुए धनुष हाथ में लिए राम को यमराज की भाँति देखता हूँ। हे रावण! भयभीत होकर मैं सहस्रों रामों को

देखता हूं। पूरा दण्डकारण्य मुझे रामरूप ही जान पड़ता है। राम रहित देश में भी राम ही को देखता हूँ। स्वप्न में राम को देखकर चैतन्य की भाँति अनेक प्रकार की भ्रान्ति को प्राप्त करता हूँ। रकारादि रत्न-रथ प्रभृति नाम राम से डरे हुए मुझको अत्यन्त भयभीत कर देते हैं। इसलिये चाहे राम से युद्ध कीजिये अथवा उन्हें क्षमा कीजिये, किन्तु यदि मुझे जीवित देखना चाहते हैं। तो मुझसे आपको राम की चर्चा नहीं करनी चाहिये। महान् तेजस्वी अत्यन्त बुद्धिमान्, परम शक्तिशाली राम अवश्य ही राक्षस समूह के नाश करने वाले हो सकते हैं। बालि के भय से डरे हुए सुग्रीव ने भी जब वीर वेष में आयुध-धारी राम-लक्ष्मण को देखा, तब बालि के कुचक्र की भ्रांति घबड़ा गया। उसका हृदय उद्विग्न हो उठा। वह चारों दिशाओं को देखने लगा। कहीं एक स्थान पर स्थिर न रह सका। सुग्रीव के सचिव सभी वानर भयभीत हो गये थे। अतएव सभी एक साथ इस पर्वत से उस पर्वत पर भाग रहे थे। उनके वेग से पर्वतों के शिखर काँपने लगे। बालि भी सतजन मुनि के शाप से भयभीत है। दुन्दुभी का बालि के द्वारा वध होने पर जो रक्त की बूदें उनके आश्रम में गिरीं, उससे उन्होंने यह शाप दे दिया, कि जो यहाँ आयेगा, वह पत्थर हो जायगा। मुनि की तपस्या का ऐसा प्रभाव है, कि इन्द्र आदि देवता भी आक्रमण नहीं कर सकते। पक्षी तथा अन्य वनचारी इस आश्रम में नहीं जाते हैं। यदि कोई मोहवश जाता भी है, तो लौट कर नहीं आता। सीता भय से त्रस्त हैं। राक्षसियाँ उनसे कहती है, 'आज इसी क्षण बुरे अभिप्राय रखने वाली तुम्हारा मांस राक्षसियाँ खायेंगी। तब वृद्धा त्रिजटा अपने भयानक स्वप्न का परिचय देकर उनको भयभीत करती है, "आज मैने भयानक और रोंगटे खड़े करने वाला स्वप्न देखा है। जिससे इनके पति का कल्याण और राक्षसों का नाश जान पड़ता है। क्रोध में भरी हुई सब राक्षसियाँ त्रिजटा के इस वचन से भयभीत हो गईं। त्रिजटा का स्वप्न इस प्रकार है - हाथी दाँत से बने हुए आकाश में चलने वाले हजार घोड़ों से युक्त रथ पर बैठ कर और श्वेत वस्त्र-माल्य आदि धारण किये रामचन्द्र लक्ष्मण के साथ

लंका में आये हैं। सीता श्वेत वस्त्र पहने एक श्वेत पर्वत पर बैठी हैं और क्षीर समुद्र से वह पर्वत घेरा हुआ है। जिस प्रकार सूर्य से प्रभा मिलती है। उसी प्रकार सीता राम से मिल गयी हैं। अपने प्रकाश से सूर्य के समान दीप्यमान शुक्लाम्बर-धारी राम जानकी के पास आये हैं। अनन्तर सीता उस पर्वत से हाथी के कंधे पर आ गईं, जिसे राम स्वयं हाँक रहे थे। पुनः कमल-नयनी सीता को मैंने पति के अंक से निकल कर चंद्रमा और सूर्य को हाथ से पोंछती देखी। अनंतर वह श्रेष्ठ हाथी जिसपर राम और लक्ष्मण विशालाक्षी सीता के साथ बैठे हैं, लंका पर आया। श्वेत आठ बैलों से युक्त रथ पर शुक्लाम्बर-धारी राम लक्ष्मण के साथ यहाँ आये हैं। पुनः सत्य पराक्रम राम को मैंने देखा, वे पराक्रमी भाई लक्ष्मण के साथ सूर्यसदृश दिव्य-पुष्पक विमान पर-चढ़कर उत्तर दिशा की ओर गये हैं और रावण को मैंने मुण्डित मस्तक, तैलयुक्त देखा है। वह लाल वस्त्र पहिने हुए था। पीकर नशे में चूर था। करवीर की माला (फाँसी के दण्डित अपराधी का चिन्ह) पहने हुए था। वह रावण पुष्पक विमान से नीचे गिर पड़ा। मैंने पुनः देखा-रावण कालावस्त्र पहने हुए है, उसका सिर मुण्डित है और एक स्त्री उसका वस्त्र खींच रही है। वह लाल रंग की माला तथा शरीर लेप धारण किये हुए था और गधे पर बैठा हुआ था। वह तैल पी रहा था। हँसता था, नाचता था, पागलों के समान उसका चित्त और इंद्रियां व्याकुल हो गई थीं। वह गधे पर चढ़कर दक्षिण दिशा की ओर गया। पुनः मैंने देखा, कि राक्षसेश्वर रावण भय से कर्त्तव्यविमूढ होकर, भूमि पर गिर पड़ा। उसका शिर धड़ से अलग हो गया था। वह घबड़ाकर भयभीत और मतवाला होकर सहसा उठा। वह उन्मत्त के समान था। नंगा था और दुर्वचन बोल रहा था। असहनीय, दुर्गंध वाले नरक के समान अंधकार और मलपंक में रावण घुसा तथा वहीं डूब गया। रावण दक्षिण दिशा की ओर गया और बिना कीचड़ के तालाब में घुसा। रक्त वस्त्र धारण करने वाली एक स्त्री, जो काली थी और जिसके शरीर में कीचड़ लिपटा हुआ था, वह रावण का गला पकड़कर

उसे दक्षिण दिशा की ओर खींच रहीं थीं। इसी प्रकार महाबली कुम्भकर्ण को भी मैंने वहाँ देखा। इसी प्रकार रावण के सब लड़कों को मुण्डित और तैललिप्त मैंने देखा। रावण सुअर पर चढ़ कर मेघनाद सूँस पर चढ़ कर कुम्भकर्ण ऊँट पर चढ़ कर दक्षिण दिशा की ओर गये। हाथी घोड़े रथ के साथ यह रमणीय लंका पुरी समुद्र में डूब गयी। इसके गोपुर और तोरण टूट गये। कुम्भकर्ण आदि राक्षसों के मुखिया लाल वस्त्र पहन कर गोबर के तालाब में घुस पड़े। अतएव तुम लोग यहाँ से हट जाओ। रामचन्द्र को सीता मिलेंगी। यह तुम लोग देखना। परम क्रोधी राम राक्षसों के साथ तुम लोगों को अवश्य मारेंगे। यह भयानक स्वप्न सीता की प्राणरक्षा के साथ अवश्य-म्भाविनी सत्य की प्रतीति के सर्वथा अनुरूप है। राजा दशरथ भी अंधे मुनि के शाप से अयोध्या में भयभीत दिखाये गये हैं। वेदवती नलकूबर आदि से इस रावण का भय भी युद्धकाण्ड में प्रतिपल बढ़ते दिखाई देता है, इस प्रकार काव्य में भयानक रस की व्यापक व्यंजना हुई है।

रौद्ररस—रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध हैं। इसमें आलम्बन शत्रु होता है और उसकी चेष्टायें उद्दीपन होती हैं। भ्रकुटि-भंग, ओठ चबाना ताल ठोंकना, डाँटना, उग्रता आवेग, रोमांच, स्वेद, वेपथु और मद में सब इसके अनुभाव होते हैं। आक्षेप करना, क्रूरता से देखना, मोह और अमर्ष आदि इसके संचारी होते हैं। रामायण में इस रस की व्यंजना भी व्यापक रूप में मिलती है। विश्वामित्र के क्रोध के दुष्परिणाम को सोच कर राजा दशरथ राम लक्ष्मण को उनके साथ भेजते हैं। सगर के साठ हजार राजकुमार जब पाताल में पहुँच कर कपिलमुनि को क्रोध से डांटते हैं और उन पर अश्व-चुराने का झूठा आरोप करते हैं, तब अत्यंत क्रोध से वे हुंकार करते हैं, और उनके क्रोध की ज्वाला में वे भस्म हो जाते हैं। गौतम की पत्नी अहल्या के साथ जब इंद्र मुनि का वेष धारण कर विश्वासघात करते हैं, तब मुनि क्रोध की मूर्ति बनकर उन दोनों को शाप देते हैं। विश्वामित्र और वशिष्ठ दोनों ही अत्यंत क्रुद्ध होकर संघर्षरत दिखाई देते हैं। वशिष्ठ के पुत्र राजा त्रिशंकु

को क्रोध के आवेश में चांडाल हो जाने के लिये शाप देते हैं। अयोध्या के समस्त घटना चक्र को घटित कराने वाली मंथरा अपने असह्य-क्रोध की ज्वाला से कैकेयी के शीतल स्वच्छ हृदय को संतप्त तथा कलुषित बना देती है। वह उसे डाटती हुई कहती है, 'तुम्हारा पति धर्म से युक्त बातें करता है, पर हे शठ, मीठी बातें करता है, पर है कठोर, तुम उसकी बातों को शुद्ध भाव से नहीं जानती हो। इसी से इस प्रकार ठगी गयी, हो। उस दुष्टात्मा ने भरत को तुम्हारे भाई के यहाँ भेज दिया। इस प्रकार निष्कंटक राज्य पर वह कल राम का अभिषेक करेगा। सदा सुख में रहने वाली तुम अपने नौकर-चाकरों के साथ राम को राज्य पर स्थापित करने वाले, पापी और झूठा प्रलोभन देने वाले इस राजा के द्वारा मारी गई हो। इतने पर भी जब कैकेयी राम के राज्य-भिषेक-समाचार से प्रसन्न हो, उसे आभूषण का उपहार देती है। तब वह उसके आभूषण को फेंक कर क्रोध-संतप्त हृदय से इस प्रकार फटकारती है—"मूर्खे, बिना जरूरत के हर्ष क्यों प्रकट कर रही है। तुम शोक समुद्र में पड़ी हो, यह तुम्हें ज्ञात नहीं। इतने पर भी जब कैकेयी कहती है, कि मुझे भरत जैसा मान्य है, राम उससे भी मान्य हैं। तब वह गर्म साँस लेकर अनेक क्षुद्र तर्कों से समझाती हुयी बोली 'जब पृथ्वी पर राम का अधिकार हो जायेगा, तो अवश्य ही भरत का नाश होगा। इस कारण कुछ ऐसा उपाय सोचो, जिससे तुम्हारे पुत्र को राज्य मिले और राम यहाँ से निकाले जायँ। मन्थरा की बातें सुनकर कैकेयी का मुँह क्रोध से जलने लगा। तथा लम्बी और गर्म साँस लेकर मन्थरा इस प्रकार बोली। आज मैं यहाँ से शीघ्र ही राम को बन भेजूँगी और युवराज के पद पर भरत का अभिषेक कराऊँगी। बढ़े हुये क्रोध रूपी अंधकार से कैकेयी का मुँह छिप गया था। उसने उत्तम माल्य और आभूषण निकाल दिये थे। राजा की पत्नी उस समय तरकाहीन और तमोवृत्त आकाश के समान उदासीन जान पड़ती थी। माया-मारीच के छल में पड़ने के लिये जब लक्ष्मण नहीं तैयार होते हैं, तब सीता क्रोध से नेत्रों को लाल कर नितान्त कठोर वाक्यों से इस प्रकार वेधती हैं; कि तुम दुष्ट हो, जान पड़ता है तुम

भरत के द्वारा छिपकर मेरे लिये वन में राम के पीछे भेजे गये हो। तुम्हारा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। मैं राम को छोड़कर दूसरे की इच्छा नहीं कर सकती हूँ। निस्संदेह प्राण त्याग दूँगी। शूर्पणखा तो राक्षस-कुल की ध्वंसिका क्रूर-सर्पिणी है, वह क्रोध की चरमोग्रता की ज्वाला में सीता की आहुति देकर राम का साहचर्य प्राप्त करना चाहती है। दहकते हुये काष्ठ की अग्नि के समान नेत्र वाली शूर्पणखा परमक्रुद्ध होती हुयी, मृग के समान नेत्रवाली सीता जी को भक्षण करने के लिये वैसे ही समीप में पहुँचती है। इसके बाद महान बलशाली राम ने क्रुद्ध हो मृत्यु के पाश के समान झुकती हुयी उसको पकड़ कर लक्ष्मण, से कहा—हे लक्ष्मण क्रूर। अनार्य के साथ परिहास किसी प्रकार का नहीं करना चाहिये, सीता को किसी प्रकार देखा। हे पुरुष-व्याघ्र इस बिकट रूपवाली, सत्यसंकल्पहीना बड़े-बड़े पेट वाली अत्यन्त कामोन्माद में बेसुध राक्षसी को और भी अधिक बिकट रूपता देना उचित है। अत्यन्त बलशाली क्रुद्ध लक्ष्मण ने राम के देखते हुये खड्ग निकाल कर उसके कान और नाक को काट दिया। तमःशक्ति की यही क्रोध—मूर्ति शूर्पणखा उस क्रोध-संकल्प के प्रतीक रावण के सर्वनाश की लीलानटी है। खर-दूषण आदि के क्रोध को उद्दीपित करने के पश्चात् रावण के क्रोध को संघर्ष की ज्वाला में समाप्त कराती है। कवि की रौद्र-रस की व्यंजना युद्ध-कांड में सर्वथा अपूर्व है। भावना-मूर्ति सर्वत्र उग्र दृश्यात्मकता के साथ मिलती है। सीता के वियोग में आदर्श मूर्ति राम भी विश्वप्रलयाभिलाषी रुद्र संकल्पमय दिखायी देते हैं। प्रत्यंचायुक्त धनुष को देखते हुये. बार-बार लम्बी सांस लेते हुये प्रलय-काल में हर की भाँति सारे संसार को भस्म करने की इच्छा वाले राम को अभूतपूर्व रूप में क्रुद्ध देखकर सूखते हुये मुख से हाथ जोड़कर लक्ष्मण ने कहा—"आप सर्वदा सब प्राणियों को शरण देने वाले मुक्ति-रूपी सिद्ध है। इस प्रकार रौद्र रस की व्यंजना में महाकवि की भावुकता सर्वागण्य है।

बीभत्सरस—बीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। दुर्गन्ध युक्त मांस, रुधिर, चर्बी आदि इसके आलम्बन होते हैं। अत्यधिक विकृतरूप उद्दीपन होता

है। थूँकना, मुँह फेर लेना, आदि इसके व्यभिचारी भाव होते है। राक्षसी प्रवृत्तियों के कुचक्र में आदि कवि ने इस रस की व्यंजना की है। जिस प्रकार वर्षा काल में बादल आकाश में चारों ओर से घिर कर जल की वर्षा करते है, उसी प्रकार मारीच, सुबाहु, और उनके अनुचर माया करते हुये विश्वामित्र के यज्ञ में रक्त के समूह की वर्षा करने लगे। बालि के द्वारा दुन्दुभी के रक्त का छीटा आश्रम में गिराये जाने के कारण ही मतंग को उसे शाप देना पड़ा। राक्षसी-शक्ति से युद्ध के अवसर पर जो उत्पात होते हैं, उनमें भयंकरता और बीभत्सता समन्वित दिखाई देती है। लङ्का में पहुँचते ही राम लक्ष्मण से कह रहे हैं कि मेघ राक्षसों के समान कठोर जान पड़ते हैं, उनका गर्जन भी कठोर हो गया है। वे क्रूर रुधिर के बूँदों के साथ भयंकर वर्षा करते हैं। काक, बाज और नीच गृद्ध उड़ रहे हैं। पर्वतों और खुले हुए शूल, कलवार, तथा राक्षसों से यह भूमि भर जायेगी, मांस और रुधिर का कीचड़ हो जायगा। प्रायः प्रत्येक राक्षस, महारथी, के युद्ध के अवसर पर ऐसी घटना अवशकुन के रूप में घटित दिखाई देती है। बिराध और कबन्ध का दृश्य नितान्त बीभत्स रस पूर्ण है।

अद्भुत-रस—अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है। अलौकिक वस्तु इसका आलम्बन और उसके गुणों का वर्णन उद्दीपन होता है। रामायण में तपस्या के अद्भुत प्रभाव तथा प्रकृति की अद्भुत परिणति का दृश्य सर्वत्र मिलता है। भरत की सेना का आतिथ्य भरद्वाज मुनिने तपस्या के अद्भुत-प्रभाव से ही किया है। उनके प्रभाव से बेल के वृक्ष मृदंग बजाने लगे, बहेड़ा के पेड़ ताल देने लगे और पीपल के पेड नाचने लगे। शिंशिपा, आमलकी, जम्बू, मालती, मल्लिका, जूही आदि लतायें, जो उस बन में थीं। उन सब ने भरद्वाज के आश्रम में स्त्री का वेष धारण कर लिया। मतङ्ग, अगस्त्य, सप्तजन आदि मनुष्यों के आश्रम अद्भुत सिद्धियों से पूर्ण है। मारीच, मेघनाथ आदि की माया नितान्त अद्भुत है। सुग्रीव ने वानर सैनिकों को सीता का पता लगाने के लिए जो भौगोलिक परिचय दिया है। उनमें अनेक स्थलों के दृश्य

कवि की अद्भुत-कल्पना के निदर्शन हैं। लगभग पूरे काव्य में कवि की अद्भुत-कल्पना उत्सुकता की वृद्धि करती मिलती है।

शान्त-रस—शान्त रस का स्थायीभाव शम है; इसके आश्रय उत्तम-पात्र होते हैं। अनितत्व, दुःखमयत्व आदि रूप से सम्पूर्ण संसार की असारता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप इस रस में आलम्बन होता है। ऋषि-मुनि आदिकों के पवित्र आश्रम, पवित्र तीर्थ, रमणीय एकान्तवन महात्माओं के संग उद्दीपन-विभाव हैं। इस काव्य का आरम्भ शान्ति की निर्मल समाधि से ही हुआ है। वेदशास्त्र के अर्थ तत्व के ज्ञाता मुनि वाल्मीकि कुशा के आसन पर बैठकर यथा शास्त्र जल का आचमन कर हाथ जोड़कर समाधि वृत्तान्त का ध्यान करने लगे। इसी समाधि में उन्हें रामायण के पूरे दृश्य का साक्षात्कार हुआ। इसके पश्चात् धर्मात्मा-मुनि योग में स्थिति होकर रामादि के जीवन में जो कुछ हो चुका था। उसे हाथ में रक्खे आँवले की तरह देखने लगे। इसलिए रामायण में धर्म-भावना, यज्ञ-निष्ठा-तपस्या-साधना के रूप में शांत रस की धारा सर्वत्र बहती हुई मिलती है। सिद्धाशबरी की आश्रम-निष्ठा इसका मञ्जुल निदर्शन है। राम लक्ष्मण को देखकर वह उठकर हाथ जोड़े हुए उनके पैरों को पकड़ी। पैर धोकर आचमन करके विधिपूर्वक उसने फल-मूल आदि उन्हें प्रदान किये। राम के द्वारा विविध विधि से कुशल मंगल पूछे जाने पर उसने कहा—आज आपके दर्शन से मैंने तपस्या की सिद्धि प्राप्त की। आज मेरा जन्म सफल हुआ और गुरुजन मेरे द्वारा अच्छी तरह पूजित हुए। हे पुरुष श्रेष्ठ! देवों में श्रेष्ठ आपकी पूजा होने से मेरी तपस्या सफल हुई, और मुझे स्वर्ग मिलेगा। सुतीक्ष्ण, शरभंग अगस्त्य आदि तपस्वियों की झाँकी में शान्त-रस की मूर्तिमती व्यंजना हुई है।